शांति का



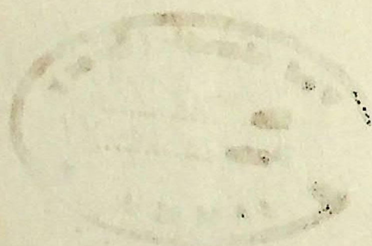


ओंकार है शान्ति का द्वार

722/H
10.10.81




JAMMU.



ओंकार है शान्ति का द्वार

(ओंकार के तत्वज्ञान और मानसिक शान्ति प्राप्त करने की साधना विधि का विवेचन)

*

लेखक :

डॉ० चमन लाल गौतम

रचयिता : ओंकार सिद्धि, ओंकार है स्वर्ग का द्वार, ओंकार शक्ति के चमत्कार, त्राटक से मानसिक शान्ति, ध्यान द्वारा चिंता निवारण, कुण्डलिनी जागरण, नाद योग, ध्यान की सरल साधनाएँ, ध्यान के गहरे प्रयोग आदि ।

*

प्रकाशक :

संस्कृति संस्थान

ख्वाजा कुतुब (वेदनगर) बरेली—२४३००३ (उ०प्र०)

फोन न० ४२४२

प्रकाशक :
डॉ० चमन लाल गौतम
संस्कृति संस्थान
ख्वाजा कुतुब (वेद नगर)
बरेली २४३००३ (उ० प्र०)

★

लेखक :
डॉ० चमनलाल गौतम

★

सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन

★

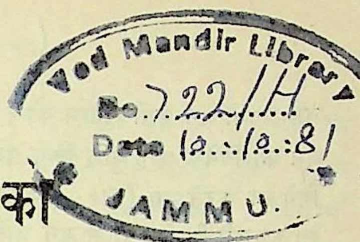
प्रथम संस्करण
सन् १९८०

★

मुद्रक :
शैलेन्द्र वी० माहेश्वरी
नवज्योति प्रेस,
सेठ भीकचन्द मार्ग, मथुरा

★

मूल्य :
पाँच रुपये पचास पैसे मात्र।



भूमिका

मानसिक शान्ति प्राप्त करने के लिये मन को शुद्ध पवित्र सात्विक, संयमित, स्थिर और अनासक्त बनाना अत्यन्त आवश्यक है। ओंकार साधना किस प्रकार से मन को प्रभावित करती है, इसे तात्विक दृष्टि से समझने के लिए कठोपनिषद् में वर्णित रथ, रथी और सारथी के रूपक का अवलोकन करना होगा। कठोपनिषद् (३।३) में लिखा है कि इस शरीर को रथ, जीवात्मा को रथी, बुद्धि को सारथी और मन को लगाम समझना चाहिए। अगले श्लोक में इन्द्रियों और विषयों का स्पष्टीकरण करते हुए कहा गया है कि इस रूपक में इन्द्रियों को घोड़े और विषयों को उनके आने जाने के मार्ग विद्वानों ने बताया हैं। और इन्द्रियों के साथ रहने वाला जीवात्मा ही उसका उपभोग करने वाला कहा गया है। इन्द्रियों की वास्तविकता का विवेचन करते हुए (३।५) में कहा गया है कि उस मनुष्य की इन्द्रियाँ अकुशल सारथी के दुष्ट घोड़ों के समान उच्छृङ्खल हो जाती हैं जो सदा अविवेक बुद्धि वाला और असंयमित मन वाला रहता है। इन्द्रियों को किस व्यक्ति द्वारा नियन्त्रित किया जा सकता है, इस सिद्धान्त को (३।६)में इस प्रकार से वर्णित किया गया है कि उस व्यक्ति की इन्द्रियाँ कुशल सारथी के श्रेष्ठ घोड़ों के समान वशीभूत रहती है जो सदैव विवेकी बुद्धियुक्त और वश में रहने वाले मन से सम्पन्न रहता है। यह निश्चित है कि अविवेकी बुद्धि और असंयत मन वाला अपवित्र हृदय मनुष्य सदैव अशान्त बना रहता है। जब तक वह मन को संयमित और बुद्धि को विवेकयुक्त नहीं बना लेता तब तक वह मन को शान्त नहीं बना सकता। (३।९) में इस तथ्य की पुष्टि की गई है कि जो व्यक्ति विवेकी सारथी के समान श्रेष्ठ बुद्धि वाला है,

वह अपनी मन रूपी लगाम को सदा वश में रखने की क्षमता रखता है। मन को विवेक युक्त बुद्धि किस प्रकार से वशमें करती है, इसका तात्विक विवेचन करते हुए (३।१०) में कहा गया है कि चूँकि इन्द्रियों से विषय शक्तिशाली है, विषयों से मन शक्तिवान है और मन से बुद्धि शक्तिशाली है। इसलिए बुद्धि सारथी के रूप में मन रूपी लगाम को अपने विवेक युक्त हाथों से दृढ़तापूर्वक पकड़ कर संयम में रखती है। इन्द्रियाँ रूपी घोड़े विषय रूपी किसी रुचिकर मार्ग की ओर जाना चाहें तो कुशल सारथी की लगाम से नियन्त्रित घोड़े अपनी मनमानी नहीं कर सकते वरन् सारथी लगामों के द्वारा जिधर भी संकेत करेगा, उधर ही इन्द्रियाँ रूपी घोड़ों को चलना पड़ेगा। जब इन्द्रियाँ बलवान और शक्तिशाली होती हैं और कमजोर सारथी के नियन्त्रण में रहना पसन्द नहीं करतीं, परिणाम स्वरूप वे सशक्त विद्रोह करती हैं और कमजोर सारथी उन्हें कुछ भी कहने का साहस नहीं कर सकता। ऐसी स्थिति में व्यक्ति का पतन हो जाता है, इन्द्रियों के वशीभूत व्यक्ति ही पथ भ्रष्ट होता है। जीवन के उत्थान के लिए इन्द्रियों को वश में करना आवश्यक है परन्तु यह बड़ा दुष्कर कार्य है। बड़े-बड़े महारथी भी इस मार्ग पर फिसल गये हैं। इसमें तभी सफलता प्राप्त की जा सकती है जब इनसे किसी बडी शक्ति का सहयोग प्राप्त हो। तत्व ज्ञानी जानते हैं कि इन्द्रियों से विषय, विषयों से मन और मन से बुद्धि इसलिए शक्तिशाली हैं क्योंकि इन्द्रियों से विषय, विषयों से मन और मन से बुद्धि क्रमशः अधिक सूक्ष्म होते चले गये हैं। यह वैज्ञानिक सिद्धान्त है कि स्थूलता अर्थात् जड़ता में कुछ भी शक्ति नहीं होती जैसा हमारा शरीर स्थूलता के साथ जब सूक्ष्म चेतन का मिलन होता है, तब ही स्थूलता में क्रियाशीलता उत्पन्न होती है जैसे—शरीर के साथ प्राण को संयोजन होने से सभी क्रियायें संचलित हो जाती हैं अन्यथा शरीर मृत माना जाता है। जितनी कोई वस्तुसे सूक्ष्म स्थूल बनती जाती है उतना ही उसमें शक्ति का विकास

होता चलता है जैसे-स्थूल जल से किसी वाहन को नहीं चलाया जा सकता परन्तु जब जल में भाप बनाई जाती है तो उसकी इतनी शक्ति विकसित हो जाती है कि उससे हजारों मन वजन के डिब्बे व सवारियाँ भी खींच ले जाती है। इसी तरह से स्थूल शरीर से इन्द्रियाँ सशक्त होती हैं। इसलिये वे शरीर को अपनी इच्छानुसार मोड़ने में सफल रहती हैं। विषय इन्द्रियों से सूक्ष्म होते हैं। इसलिए वे विषयों से सूक्ष्म और शक्तिशाली है। जिस व्यक्ति का मन स्वच्छ निर्मल और सात्विक होता है, वह इन्द्रियों को सद्मार्ग पर ही जाने की आज्ञा देता है परन्तु अपवित्र मन वाला व्यक्ति सदैव विषयों में ही उलझा रहता है। अतः उसे संयमित रखने के लिए उससे सूक्ष्म और शक्तिशाली विवेक युक्त बुद्धि की अपेक्षा रहती है।

ऋषि मुनियों की अनुभूतियाँ प्रमाण हैं कि ओंकार मनुष्य मात्र को विवेक युक्त सात्विक बुद्धि देता है, दोषों और दुर्गुणों को दूर करता है, चित्त को निर्मल बनाता है, अन्तःकरण को शुद्ध करता है। ओंकार एक ऐसा सुगन्धियुक्त फूल है जो अपनी सुगन्धि से साधक के अन्तःकरण को सुवासित कर देता है। तभी गोपथ ब्राह्मण के ऋषि ने दृढ़ता पूर्वक कहा है कि ओंकार साधना से सारे मनोरथों की सिद्धि और सारी समस्याओं की शान्ति होती है। नारायणोपनिषद् में ओंकार को विघ्नों को शान्त करने वाला कहा गया है। पद्म पुराण में इस तथ्य का समर्थन करते हुए कहा गया है कि ओंकार का उपांशु जप समस्त पाप, तापों और कुसंस्कारों का नाश करता है। ओंकार का दीर्घ उच्चारण, तार स्वर से किया जाने वाला कीर्तन, शान्ति देने वाला है।

ओ३म् ध्वनि का तार स्वर से कीर्तन करने पर मन की जड़ता नष्ट होती है। विषाद, अवसाद, तनाव आदि दूर होते हैं। फिर कीर्तन मन को स्निग्ध बनाता है। भक्ति रस से अभिसिञ्चित करके कल्मष कषाय आदि दोषों को दूर करता है। ॐ के कीर्तन से मन चैतन्य हो

उठता है। अनमता दूर होती हैं। वह साध्य के प्रति तेजी से उन्मुख होता है। ताल और लय युक्त सुमधुर कीर्तन करने से अन्तर्मनकी गुप्त शक्तियों का जागरण होता है। रस-ग्रन्थियाँ अपना मुख खोल देती हैं, और अन्तरतम को दिव्य रस से सरावोर कर देती है। ॐ का कीर्तन चञ्चलता को दूर करने वाला और तन्मयता वढ़ाने वाला है।

छान्दोग्य १।२।१, १।१।७, १।३।१२ व कठोपनिषद् १।२।१६ में ओंकारकी रसों का रस कहा गया है। इसलिये इसकी आराधना सेपरम शान्ति और आनन्द की उपलब्धि होती है। मनुस्मृति में कहा कि ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद रूपी गायों का प्रजापति ब्रह्मा ने दोहन किया। अ.उ.म. उन्हीं से कढ़ा हुआ अमृतमय गो दुग्ध है। इसीलिए अथर्व शिरोपनिषद् के ऋषि ने स्वीकार किया है कि ओंकारोपासक कभी कोई चिन्ता नहीं करता, कभी दुःखी नहीं रहता।

यह पुस्तक साधक को शान्ति का मार्ग दिखायगी ऐसा विश्वास है।

—चमनलाल गौतम

ओंकार है शान्ति का द्वार
की
विषय-सूची

———

ओंकार है शान्ति का द्वार

शान्ति का वास्तविक अभिप्राय

सुख वही है जिसमें शान्ति हो। शान्ति नहीं तो सुख ही कैसा ? धन, ऐश्वर्य, संतान, वाहन, पद, प्रतिष्ठा, सुकीर्ति आदि सुख के साधन है। इनकी सम्पन्नता वाला मनुष्य सुखी समझा जाता है। किन्तु जब तक मन में किसी भी प्रकार की अशान्ति है तब तक वह समस्त सुख निरर्थक है। इसीलिए ज्ञानीजन धन, सन्तानादि को सुख का कारण नहीं, वरन् शान्ति को ही सुख की जड़ मानते हैं।

वड़े व्यापक अभिप्राय हैं शान्ति के चैन, संतोष, तृप्ति, मङ्गल सौभाग्य, वेग, अक्षोभ, स्वस्थता, समाप्ति आदि सभी शब्द शान्ति के पर्यायवाची हैं। इनके अतिरिक्त और भी अर्थ होने के कारण यह शब्द व्यापक है। जिसमें स्थिरता हो, उसे भी शान्ति कहते हैं। जिसमें क्रियाओं का अभाव हो, वह शान्ति है। कर्म-संन्यास तथा आकांक्षाओं की निवृत्ति भी शान्ति के अन्तर्गत आती है। रागादि के अभाव की स्थिति भी शान्ति कहलाती है।

अचंचलता का तात्पर्य भी शान्ति ही है, समाधि अवस्था में जिस नीरवता और अचेतना का आभास होता है, उसे भी शान्ति कहते हैं। शम-दम भी शान्ति के रूपान्तर हैं। जिसमें विघ्न-बाधाएँ न हों वह भी शान्ति ही है।

और यह सभी लक्षण परमात्मा में विद्यमान हैं। आत्मा उसी का अंशभूत है, इसलिये वह भी उक्त समस्त लक्षणों से सम्पन्न है। आत्मा-परमात्मा का अभेद ज्ञान भी परम शान्ति का कारण है। तात्पर्य यह कि जो कुछ परमात्मा से सम्बन्धित है, वह सब शान्ति ही है। शान्ति परमात्मा में है, परमात्मा में शान्ति है। इस प्रकार परमात्मा और शान्ति की अभिन्नता ही सिद्ध होती है।

यही शान्ति जब मन से दूर रहती है,तब दुःख देने वाली सिद्ध होती है। जब मन के साथ घुल-मिल जाती है, तब समस्त सुखों की कारण बन जाती है। इसके बिना मन प्रसन्न नहीं हो सकता, इसके बिना सुख या आनन्द बहुत दूर की वस्तु है। शंकरचार्यजी का मत है कि मानसिक प्रसन्नता, स्वात्मानुभूति, परम शान्ति तृप्ति, आनन्द और परमात्म निष्ठा —यह धर्म विशुद्ध सत्व के हैं, तथा साधक इन्हीं के द्वारा सदा आनन्द-रस का अधिकारी रहता है।

और इन धर्मों की प्राप्ति मन के संयम से ही सम्भव है। मन को संयमित करके हम उक्त धर्मों की प्राप्ति में सफल हो सकते हैं। उसके लिये आवश्यक है कि हम अपने भीतर विद्यमान सतोगुण की वृद्धि करें और उसे इतना प्रभावशाली बनायें, जिससे रजोगुण और तमोगुण दब जाँय।

यह तीनों गुण मनुष्यों में समान रूप से विद्यमान रहते हैं, किन्तु समान रूप से व्यक्त नहीं होते। आनुवंशिकता, परिवेश, परिस्थिति आदि के कारण इनमें से कोई एक गुण अधिक व्यक्त रहता है और मनुष्य की समस्त मानसिक और शारीरिक क्रियाएँ उसी से प्रभावित रहती हैं।

सतोगुण मनुष्य के उत्थान में सहायक होता है। वही उसकी सुख-शान्ति में एक सुलभ साधन है। उससे भिन्न स्वभाव रजोगुण और तमोगुण का है। रजोगुण लोभ,मोह, वैभव प्रियता, विलास-प्रियता तथा

विभिन्न प्रकार की भौतिक आकांक्षाओं में कारण होता है। तमोगुण में हिंसा,क्रूरता, क्रोध, ईर्ष्या-द्वेष आदि की अधिकता होती।

सतोगुण के द्वारा मनुष्य सुख-शान्ति प्राप्ति कर सकता है तो रजो-गुण उस सुख-शान्ति में बाधक होता हैं और तमोगुण तो सुख-शान्ति को नष्ट ही कर डालता है। इससे स्पष्ट है कि यदि शान्ति की कामना हो तो सतोगुण का ग्रहण करना चाहिए। उसी की वृद्धि होने से कल्याण हो सकता है। श्रीमद्भागवत (११।१३।१-३) के अनुसार—

सत्वं रजस्तम इति गुणा बुद्धर्न चात्मनः।
सत्वेनान्यतमौ हन्यात् सत्वं सत्वेन चैव हि॥
सत्वाद् धर्मो भवेद् वृद्धात् पुंसो मद्भक्ति लक्षणः।
सात्विकोपासया सत्वं ततो धर्मः प्रवर्तते॥
धर्मो रजस्तमो हन्यात् सत्ववृद्धिरनुत्तमः।
आशु नश्यति तन्मूलो ह्यधर्म उभये हते॥

अर्थात्—सत्व, रज और तम, यह तीनों गुण प्रकृति के है, आत्मा के नहीं। इसलिये सतोगुण की वृद्धि कर रजोगुण और तमोगुण की वृत्तियों को नष्ट करे तथा सत्य और दया आदि रूप वाले सत्व को उप-शम रूपी सत्तोगुण से ही शान्त करना चाहिए। सात्विक पदार्थों के सेवन से सतोगुण बढ़ता है और बढ़े हुए सतोगुण से ही मेरी भक्ति रूप धर्म की प्राप्ति होती है। बढ़े हुए सतोगुण से प्राप्त होने वाला सर्वश्रेष्ठ भक्ति धर्म रजोगुण और तमोगुण (दोनों) को नष्ट कर देता हैं और इन दोनों का नाश होने पर ही इनसे उत्पन्न राग, द्वेष, प्रमादादि अधर्म भी नष्ट हो जाते हैं।

बन्धन-मोक्ष के कारण-मन की स्थिरता का उपाय

विवेक-चूड़ामणि के अनुसार "जैसे मेघ का आना-जाना वायु के द्वारा ही होता है, वैसे ही मन के द्वारा बन्धन और मोक्ष दोनों की कल्पना होती हैं। अतएव जीव के बन्धन और मोक्ष में मन ही कारण रजोगुणी से मलीन होने पर यह बन्धन का कारण होता है और रज-तम से रहित तथा शुद्ध सात्विक होने पर मोक्ष का कारण बन जाता है।

इससे य मानना उचित होगा कि मन को शुद्ध सात्विक बनाने का प्रयत्न किया जाय। योग-दर्शन (२।३३-३४) के अनुसार—

वितर्क बाधने प्रतिपक्षभावनम्। वितर्का हिंसादयः कृतकारितानुमोदिता लोभ क्रोध मोह पूर्वका मृदुमध्याधिमात्रा दुःखाज्ञानानन्त फला इति प्रतिपक्ष भावनम् ॥

अर्थात्—जब मन के जीतने में बाधक संकल्प उठने लगें तब प्रतिपक्षी विचारों का सहारा लेना चाहिये। वे वितर्क हिंसा आदि हैं। वे स्वयं किये हुए, औरों से कराये हुए और समर्थन किये हुए होते हैं। उनका कारण लोभ, क्रोध, मोह होता है। वे मृदु, मध्य और तीव्र भेद वाले तथा दुःख और अज्ञान रूप अनन्त फल देने वाले होते हैं। यही प्रतिपक्षी विचार हैं।

वस्तुतः मन बहुत चंचल है, उसके शुभ कर्मों में प्रवृत्त होने के समय अनेक विघ्न उपस्थित हो सकते हैं। सुन्दर स्त्री देख कर उसके प्रति लालसा, धन-प्राप्ति की इच्छा, सन्तान की इच्छा, कीर्ति, पद, प्रतिष्ठा

की इच्छा, परिग्रह, अशौच, असंतोष, हिंसा-भाव, असत्य-भाषण आदि अनन्त भेद हैं। इन सब के द्वारा शान्ति का नाश और अशान्ति का उद्भव होता है।

स्वामी विवेकानन्द का मत है कि 'मन को वश में करेने की शक्ति प्राप्त करनेसे पहले हमें ठीक प्रकार से उसका अध्ययक करना चाहिए।' स्वामीजी के मत में मन को स्थिर करने का सरल उपाय चुपचाप बैठना है। कुछ क्षण के लिये वह जिधर जाये जाने दो और इस भाव का दृढ़ता से चिन्तन करो कि 'मैं मन को विचरण करता हुआ देखने वाला साक्षी हूँ, मन नहीं हूँ।' फिर मन को इस प्रकार सोचता हुआ कल्पना करो कि वह तुमसे भिन्न हैं।'

वस्तुतः मन और आत्मा में ऐक्य नहीं है। आत्मा का ऐक्य तो परमात्मा से है। इसलिए परमात्मा को अपने से भिन्न मत समझो। परमात्मा से अपने को भिन्न समझना ही अज्ञान है। उसी के कारण शरीर में अपनत्व की भ्रान्ति होती हैं। इसी को देहाध्यास कहते हैं। यह देहाध्यास ही अत्यन्त दुःख का कारण है। उसी से अशान्ति उत्पन्न होजाती है।

देहाध्यास ही विभिन्न संकल्पों का कारण है। उनकी निवृत्ति होने पर ही विश्वास जाग्रत् हो सकता है। उन संकल्पों को रोकने के लिये बल प्रयोग नहीं करना चाहिए। स्वामी विवेकानन्द ने इसका उपाय बताते हुए कहा है—'विचारों को रोकने का प्रयास नहीं करना चाहिए। वरन् उनका निरीक्षण करो। वे जैसे-जैसे विचरण करें वैसे-वैसे ही तुम भी उनके पीछे चलो। यह क्रिया शनैः शनैः मन के वृत्तों को सीमित कर देगी। उसका कारण यह है कि विचारों की विस्तृत परिधि में मन घूमता है। यह परिधियाँ विस्तृत होकर निरन्तर वृद्धिशील वृत्तों में वैसे ही फैलती रहतीं है, जैसे किसी सरोवर में ढेला फेंकने पर। हम इस

क्रिया को उलट दें ओर बड़े वृत्तों से आरम्भ करके उन्हें छोटा बनाते चलें। यहाँ तक कि अन्त में मन एक बिन्दु पर स्थिर होकर वहीं रुक सके।'

मन की स्थिरता से ही शान्ति सम्भव है

इस प्रकार अभ्यास के द्वारा मन की स्थिरता सिद्ध हो सकती है। यदि मन स्थिर होजाता है तो संसार धुँधला हो जाता है। मन की स्थिरता संसार को हिला देती है। इसीलिए कहा है—'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्ध मोक्षयोः' यदि मन जीत लिया गया तो बन्धन चला गया। फिर तो मोक्ष ही मोक्ष है।

जीता हुआ मन शान्त कहा जाता है। यदि वह जीता नहीं गया तो शरीर को उकसाये बिना न रहेगा। उसकी उच्छृंखलता अशान्ति को निरन्तर बढ़ाती रहेगी। इसलिये उसकी निर्मलता पर ध्यान दो। क्योंकि वह जितना ही स्वच्छ होगा, उतनी ही सरलता से वश में आयेगा। उसका बिखराव भी कभी कम होगा जब उसका मैल हटेगा।

आप देख सकते हैं किसी स्वच्छ मणि को, उस पर कुछ कूड़ा-करकट पड़ने दीजिये। धीरे-धीरे उस पर मैल की पर्तें चढ़ती चली जाँयगी। स्वर्णाभूषण नित्य प्रति पहिने रहिये, यदि उसकी स्वच्छता पर ध्यान

नहीं देंगे तो उसकी चमक अवश्य ही छिप जायगी मन की भी यही स्थिति है। उस पर मैल चढ़ता है तो चढ़ता ही चला जाता है।

यद्यपि यह कह देना बहुत सरल है कि मन को विषय भोगों से विरक्त कर लिया जाय। जब तक ऐसा न करोगे, तब तक आत्मोत्थान सम्भव नहीं। जब तक मन को न मारोगे तब तक यथार्थ सुख और स्थाई शान्ति मिल नहीं सकती। परन्तु कहने और करने में बड़ा अन्तर कहने और करने में बड़ा अन्तर है। कोई भी कार्य कहने मात्र से नहीं होपाता। कोई श्रोता सुनता है इस उपदेश को और सोचता है कि मुझे इसका पालन करना चाहिये। किन्तु मन, वह कब मानता है उपदेशक की बात। कहो तो उपदेश सुनते-सुनते ही लम्बी छलाँगें लगा बैठे। आप भारत के किसी स्थान पर बैठे हुए उपदेश सुन रहे हैं और आपका मन सैर कर रहा है पैरिस की। शायद उसने उपदेश भी पूरे का पूरा ग्रहण न किया हो।

श्रोता के साथ ही नहीं, साधक के साथ भी मन का व्यवहार ऐसा ही है। इधर जप चल रहा है और उधर मन कहीं और घूमता फिर रहा है। इधर पूजा-पाठ चल रहा है, उधर मन का पता नहीं। यह बात साधारण मनुष्यों में ही नहीं, बड़े-बड़े अभ्यासियों, भजनानन्दियों, बड़े-बड़े तपस्वियों के विषय में भी हो सकती है।

ध्यान रखिये कि मन का एकदम दमन किया जाना अधिक हितकर नहीं हो सकता। वास्तव में उचित यही है कि मन को सही मार्ग पर लाने के लिये उसे अभ्यास कराओ। घोड़े को अपनी इच्छानुसार चलाने के लिए पहिले उसे कुछ दिनों तक अभ्यास कराना होता है। साइकिल पर सवारी करने वाले जानते हैं किउन्हें उस पर चढ़ना सीखने के लिये कितना अभ्यास करना पड़ा है।

अभ्यास से सभी कुछ सिद्ध हो जाता है। बड़े-बड़े कार्य, जिनकी कल्पना भी नहीं की जा सकती, अभ्यास से सम्पन्न हो जाते हैं। पहल-

वान बड़ी-बड़ी कुश्तियाँ लड़ते हैं, उन्हें भी पहिले अभ्यास करना होता है।

आपने नाम सुना होगा प्रोफेसर राममूर्ति का, वह अपनी छाती पर भारी पत्थर रखवा कर उसे चोटों से तुड़वाते थे। मोटर कारों को चलने से रोक देते थे, यानी मोटर गाड़ी स्टार्ट होकर भी चल नहीं पाती थी। और भी अनेक आश्चर्यजनक कार्य वे दिखाते थे, उन सभी में मुख्य तो अभ्यास ही था।

मन को नियन्त्रित कहना ही सफलता की कुन्जी है। आप उसे करना चाहते हों तो अवश्य करें, किन्तु बल पूर्वक नहीं। बल प्रयोग करोगे तो वह निकल भागने का प्रयत्न करेगा। बालक को देखते हो, उसे बल पूर्वक रोकते हो किसी कार्य के करने से तो उसकी उत्कण्ठा जाग उठती हैं। वह सोचता है—'क्यों रोकते हैं यह मुझे ? क्या रहस्य है इसमें ?' वह रुक तो जाता है उस समय, किन्तु अनिच्छा पूर्वक इसलिए भी कि कहीं मार न पड़ जाय। मार का भय उसे उस कार्य से रोकता है। किन्तु उस प्रकार रुकने में उसे श्रद्धा नही होती।

फिर बालकों को ही क्यों ? वयस्कों को ही लीजिये—क्या दमन के द्वारा हृदय जीता जा सकता है उनका ? तलवार का भय दिखाकर आप उनका सिर झुका सकते हैं, किन्तु हृदय नही जीत सकते। यदि हृदय जीतना चाहें तो प्रेम-प्यार से ही सम्भव होगा।

बहुत बार मन के जीतने में पूर्व संस्कार भी बाधक होजाते हैं। वे संस्कार विभिन्न जन्मों में किये हुए उन कर्मों के रूप में संचित रहते हैं, जिनका फल-भोग नहीं हो सका। जिन कर्मों का भोग शेष रह जाता है, वे संचित होते रहते हैं और धीरे-धीरे संस्कारों का रूप ले लेते हैं।

इस प्रकार संस्कारों का निर्माण शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के कर्मों से होता है। शुभ कर्मों से शुभ संस्कार और अशुभ कर्मों से

अशुभ सस्कार बनते हैं। इस प्रकार शुभ संस्कार मनुष्यों को श्रेष्ठ कर्मों में लगाते और दुःखों से बचाते हैं। किन्तु अशुभ संस्कार बुरे कर्मों में प्रेरित करते और सुख-शान्ति के हरण में सहायक होते हैं।



संस्कारों में संशोधन की सम्भावना

यदि मनुष्य कुछ सावधानी से कार्य ले तो अपने कुसंस्कारों को सुसंस्कारों के रूप में बदल सकता है। उसके लिये यह आवश्यक है कि मनुष्य अपने परिवेश को बदले। जिनकी संगति में बैठता है, यदि वे खराब हैं, तो उनका साथ छोड़कर अच्छे व्यक्तियों की संगति में रहना आरम्भ करे। घर में दूषित वातावरण हो तो उसमें परिवर्तन लाये। शत्रुओं को शत्रु न समझ कर मित्र के समान माने। ईर्ष्या-द्वेष छोड़कर सभी के प्रति प्रेम-भाव रखे, क्रोध न करे, क्योंकि क्रोध समस्त हानियों एक मात्र कारण है। काम-वासना पर भी नियन्त्रण रखे। मोह को छोड़ दे और सम भावी बने।

परधन और परस्त्री, यह पाप की जड़ हैं। इनमें आसक्ति होना पतन का सबसे बड़ा कारण है। नरक का द्वार यही है। लोग नासमझी में इस पर ध्यान नहीं देते। यदि ध्यान देने लगें तो भीषण अध-पतन से बच सकते हैं।

इसके लिये मनोभूमि को सबल बनाना अपेक्षित है। गृहस्थी हो, वानप्रस्थी हो अथवा संन्यासी, सभी को इस पर ध्यान देना अनिवार्य

है। क्योंकि मनोभूमि की दुर्बलता सभी को अपने लक्ष्य से हटा सकती है।

वान प्रस्थियों और संन्यासियों के लिये तीर्थ यात्रा का निर्देश मिलता है। वानप्रस्थाश्रम में तीर्थ सेवन का उद्देश्य शारीरिक और मानसिक शुद्धि है, जब कि संन्यासाश्रम में उनका उपयोग निवास के लिये किया जा सकता है। संन्यासो को बहुत दिनों तक एक हीं स्थान पर निरन्तर नहीं रहना चाहिये। कहते हैं कि 'रमते योगी और बहते पानी का क्या ठिकाना? पता नहीं संन्यासी कब किस स्थान पर रहे और कब उसे छोड़ दे!

किन्तु, तीर्थ स्थान, पुण्य स्थल होने के कारण ठहरने के लिये अधिक उपयुक्त हो सकते हैं। परन्तु कुछ विद्वानों ने तीर्थ के चार प्रकार माने हैं—(१) अर्थ तीर्थ, (२) धर्मतीर्थ, (३) काम तीर्थ और (४) मोक्ष तीर्थ। इनमें से प्रथम तीर्थ वह है जो नदियों के तटवर्ती हों तथा जहाँ अन्य स्थानों से माल आने की सुविधा के कारण व्यापारिक केन्द्र भी स्थापित होगये हों।

दूसरे प्रकार के तीर्थ (धर्म तीर्थ) वे हैं सभी लोग धर्म-पालनार्थ पर्व-स्नान और पुण्यदानादि करते हों। ऐसे स्थानों पर धर्म, नीति आदि से सम्बन्धित शिक्षा केन्द्र भी स्थापित रह सकते हैं।

काम तीर्थ उन्हें कहते हैं, जहाँ कला संगीत, सौन्दर्य आदि से सम्बन्धित केन्द्र स्थापित किये गये हों। मोक्ष तीर्थ वे हैं, जहाँ विद्या, ज्ञान ओप अध्यात्म के केन्द्र हों। इनमें विरक्त मुनीश्वरों तथा योगियों के आश्रम एवं ध्यान-समाधि आदि की साधनाओं के केन्द्र भी हो सकते हैं।

यद्यपि यह सभी केन्द्र उपयोगी हैं, किन्तु परिव्राजकों वानप्रस्थों और संन्यासियों के लिए दूसरे और चौथे प्रकार के तीर्थ उपयोगी हो सकते हैं। संन्यासियों और वैरागियों के लिये तो मोक्ष-तीर्थ ही

अधिक हितकर हैं। उन्हें अन्य किसी प्रकार के तीर्थों में जाने की आव-श्यकता नही है।

तीर्थयात्राओं का उद्देश्य पाप-बन्धनों को काटना और पुण्य का अर्जन करना है। वहाँ साधु-सन्तों का दर्शन भी होजाता है जो कि अत्यंत कल्याणकारी होता है। स्कन्द पुराण में कहा है—

मुख्या पुरुष यात्रा हि तीर्थं यात्रा प्रसंगतः।
सद्भिः समागमो भूमिभागस्तीर्थं तयोच्यते ॥

अर्थात्—तीर्थ यात्रा के लिये जाने का मुख्य उद्देश्य साधुओं का दर्शन और उनका समागम ही है। इसलिए जिस भूभाग में सज्जनों का निवास हो, वही तीर्थ कहलाता है।

पद्मपुराण में तीर्थ की जो व्याख्या की गई है, वह प्रायः मोक्ष-तीर्थ परघटित होती है। यथा—

अज्ञानाख्यं तमस्तस्य गुरुः सर्व प्रणाशयेत्।
तस्माद् गुरुः परंतीर्थं शिष्याणामवनीयते ॥

अर्थात्—गुरु अज्ञान रूपी अन्धकार को नष्ट करने में समर्थ होता है, इसलिये शिष्यों के लिये तो वही परम तीर्थ से समान पुण्य-दायक है।

वस्तुतः तीर्थ का अर्थ 'तरति अनेन इति तीर्थं' जिसके द्वारा प्राणी मात्र तर सकें, वह तीर्थ है।' भगवान् के भक्त भी [तीर्थ रूप होते हैं, इस विषय में भागवत में विदुर के प्रति युधिष्ठिर ने जो कुछ कहा, वह मनन के योग्य हैं—

भवद्विधा भागवतास्तीर्थभूताः स्वयं विभो।
तीर्थो कुर्वन्ति तीर्थानि स्वान्तः स्थेन गदाभृता ॥

अर्थात्—तुम्हारे समान भक्त स्वयं ही तीर्थ रूप होते हैं। तुम अपने हृदय में विराजमान हुए भगवान् के प्रभाव से ही तीर्थों को महातीर्थ बनाते हुए विचरण करते हो।

परन्तु, सभी में श्रद्धा का महत्व है। श्रद्धा न हो तो कोई भी साधना सिद्ध नहीं होती और श्रद्धाहीन समस्त कर्म व्यर्थ होजाते हैं। शास्त्र का वचन है—

मन्त्रे तीर्थे द्विजे दैवे दैवज्ञे भेषजे गुरौ।
यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी॥

अर्थात्—मन्त्र, तीर्थ, ब्राह्मण, देवता, ज्योतिषी, चिकित्सक और गुरु, इनमें जिसकी जैसी भावना होती है, उसी के समान सिद्धि प्राप्त हो सकती हैं।

यह आवश्यक नहीं कि तीर्थ शुभ कर्मियों, साधु-सन्तों, महात्माओं आदि के लिए ही कल्याणकारी हों। पाप-कर्म करने वालों के लिये भी इनका उपयोग श्रेयस्कर है—

नृणां पापकृतां तीर्थे पापस्य शमनं भवेत्।
यथोक्त फलदं तीर्थं भवेच्छुद्धात्मनां नृणाम्॥

अर्थात्—पाप कर्म वाले मनुष्यों के तीर्थ में जाने से पाप दूर हो जाते हैं। किन्तु जिनके अन्तःकरण शुद्ध हैं, उनके लिए तीर्थ का फल यथोक्त (शुभ) होता हैं।

पापों से छूटने का एक सरल उपाय महाभारत के वन पर्व में बताया गया है—

विकर्मणा तप्यमानः पापाद् विपरिमुच्यते।
न तत्कुर्यां पुनरिति द्वितीयात् परिमुच्यते॥

अर्थात्—जो पापकर्म बन जाने पर यदि सच्चे हृदय से पश्चात्ताप करले तो उस पाप से मुक्त हो जाता है। फिर यह वह पाप न करने का निश्चिय कर ले तो भविष्य में पाप कर्म करने में उसकी प्रवृत्ति नहीं होती।

इससे यह तथ्य स्पष्ट होता है कि प्रायश्चित करने से पापों से छुटकारा पाया जा सकता है। यदि कोई पाप बन गया हो तो उसके

लिये पश्चात्ताप करो, इतना पश्चात्ताप कि तुम्हारी मनभूमि में वह जम जाये। यदि पश्चात्ताप मनोभूमि में बैठ गया तो संस्कार का रूप ले लेगा और उसके प्रभाव से पापकर्मों में रुचि ही न रहेगी।

पाप को इसलिये भी दूर करना आवश्यक है कि उसके कारण कभी-कभी तो गम्भीर फल भोगने होते हैं। क्योंकि सभी संकटों का मूल पाप कर्म ही है। चाणक्य का मत है—

आत्मापराध वृक्षस्य फलान्येतानि देहिनाम्।
दारिद्र्य दुःख रोगानि बन्धनव्यसनानि च॥

अर्थात्—अपने ही अपराध रूप वृक्ष के इतने फल शरीर-धारियों को भोगने होते हैं—दरिद्रता, दुःख, रोग, बन्धन तथा अन्यान्य प्रकार के कष्ट।

इसलिए, कल्याण चाहने वालों को उन कार्यों से बचना चाहिये, जिनके द्वारा किसी का अपराध या हिंसा होती हो। एक शास्त्रविद् ने पाप के फलों पर प्रकाश डालते हुए कहा है—

पापेन जायते व्याधिः पापेन जायते जरा।
पापेन जायते दैन्यं दुःखं शोको भयंकरः॥

अर्थात् पाप कर्मों के कारण ही रोग उत्पन्न होते हैं, उन्हीं से बुढ़ापा आता है। दीनता का कारण भी पाप ही है तथा पाप के ही कारण भयंकर दुःख-शोक भोगने होते हैं।

बहुत बार मनुष्य शुभ कर्म करता और आशा करता हूँ कि इसका शुभ फल प्राप्त होगा। किन्तु जब शीघ्र ही शुभ फल का होना अनुभव में नही आता तो निराश होजाता है और शुभ कर्म करनाही छोड़ बैठता है।

किन्तु ध्यान रहे कि कैसे भी कर्म किये जाँय, यह आवश्यक नहीं कि उनका फल शीघ्र ही मिल जाय। शुभ कर्म करने पर भी यदि उनका फल अनुभव में नहीं आता तो इसका कारण विगत संचित पाप

कर्मों का बाधा रूप में बीच में आजाना है। यदि पाप कर्म सबल हैं तो वे पुण्यफल में बाधक हो ही सकते हैं।

परन्तु, ऐसी स्थिति में भी निराश नहीं होना चाहिये। शुभ कर्मों का फल अनुभव में न आये तो भी उन्हें छोड़ना नहीं चाहिये, क्योंकि पाप कर्मों के फल को शुभकर्म ही दबा सकते हैं। शुभकर्मों को करते चलो, पाप कर्म न करो तो कभी न कभी उनका फल अवश्य ही मिलेगा। महाभारत में कहा है कि 'उभयमेव तत्रोपयुज्यते फलं धर्मस्यैवेतरस्य च' 'अर्थात् धर्म और पाप, दोनों के फलों में भिन्नता है।' इसलिये संकटों से बचना चाहते हो तो पुण्य कर्म करो। स्वर्ग में वही जाते हैं जो धीरजवान होते हैं। यथा—'सर्वद्वन्द्व सह्वा धीरास्ते नराः स्वर्गगामिनः।'

पाप कर्मों में कारण होती हैं विभिन्न वासनाएँ। जब तक उन वासनाओं का त्याग नहीं किया जाता, तब तक शुभ कर्मों में रुचि नहीं हो पाती। शाट्यायिनी-उपनिषद् में कहा है—

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते॥

अर्थात्—जब हृदय में विद्यमान सब वासनायें शान्त हो जाती हैं तभी यह मरणधर्मा मनुष्य मृत्यु से पार होकर ब्रह्मानन्द रस का आस्वादन कर पाता है।

संसार त्रिगुणात्मक है। सभी जीव इन गुणों के अधीन हैं। किसी में कोई गुण कम होता है तो किसी में अधिक। जिस गुण की अधिकता होती है, वही उसकी प्रकृति मानी जाती है।

सात्विक राजसिक और तामसिक यह तीन गुण हैं। इनमें से सात्विक स्वभाव वालों में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, अक्रोध, गुरु-सेवा, शौच, सन्तोष, आर्जव, अमानता, अदम्भ, आस्तिकता आदि गुणों की विशेषता होती है।

राजसिक स्वभाव वालों में मैं कर्त्ता हूँ, भोक्ता हूँ, वक्ता हूं प्रभृति अहंभाव की अधिकता रहती है। तामसिक स्वभाव वालों में निद्रा, आलस्य, मोह, राग, मैथुन, चौर्यकर्म आदि अधिक रूप से रहते हैं। ऐसा व्यक्ति सदा इन्हीं विकृतियों में रहता है।

इनमें सत्य का ज्ञान सात्विक है, धर्मका ज्ञान राजसिक तथा अधर्म मूढ़ता (तिमिरान्ध) तामसिक है। जिस मनुष्य में जिस गुण की विशेषता होती है, उसका वैसा ही स्वभाव होता है।

जीव की चार अवस्थाएँ मानी जाती हैं—जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय। जाग्रत्-अवस्था में ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय पांच-पाँच तथा चार अन्तःकरण मिल कर चौदहों क्रियाशील रहते हैं। स्वप्न में इन्द्रियाँ निष्क्रिय होजाती हैं, केवल चार अन्तःकरण ही रहते हैं।

सुषुप्ति में केवल एक चित्त ही रह जाता है। किन्तु तुरीयावस्था में यह भी साथ नहीं देता। उस समय एक मात्र जीव की ही विद्यमानता रहती है। उन्मीलित और निमीलित पलकों के मध्य स्थिर हुआ जीव परमात्मा के मध्य क्षेत्रज्ञ (जीवात्मा) के रूप में विद्यमान रहता है। उक्त प्रसंग में चार अन्तःकरण कहे हैं उनका अभिप्राय मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त से है।



जीव की पाँच अवस्थाएँ

तैंगलोपनिषत्कार ने जीव की पांच अवस्थाओं की चर्चा की है—जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, मूर्च्छा और मरण। जाग्रतवस्था में समस्त इन्द्रियाँ अपने-अपने अधिष्ठाता देवताओं की शक्ति से सम्पन्न होकर विषयों को ग्रहण करने हैं। उस अवस्था में जीव का निवास होकर विषयों को ग्रहण करती में है। उस अवस्था में जीव का निवास भौंहों के मध्य में कहा है तथा वह वहीं से समस्त शरीर में व्याप्त रहता है।

जब इन्द्रियाँ अपनी क्रिया बन्द कर देती हैं तब जाग्रत् अवस्था में संस्कारों से ग्राह्य-ग्राहक रूप की स्फुरणा होती है, इसे स्वप्नावस्था कहते हैं। उस अवस्था में जीव की विश्व संज्ञा होती है और वह जाग्रत् अवस्था के व्यवहारों को लुप्त करके नाड़ी के मध्य तैजस् भाव को प्राप्त होता है। उस समय वह अपनी वासना के अनुसार अपने ही आभास से विचित्र जगत् की सृष्टि करके स्वयं ही इच्छानुसार उसका भोग करता है।

आधुनिक विशेषज्ञों ने स्वप्न के जो कारण कहे हैं, उनमें आन्तरिक उत्तेजना, भौतिक उत्तेजना, सोने से पहले के विचार और मनःस्थिति, चरित्र और स्वभाव आदि प्रमुख कारण माने गये हैं। आन्तरिक उत्तेजनाओं के कारण अनेक प्रकार के स्वप्न आते हैं। यदि हम रात्रि में प्यासे सो जाते हैं तो स्वप्न में नदी, झरना, झील, तालाब आदि दिखाई देते हैं। यदि श्वास में तीव्रता हो तो आकाश में उड़ने का-सा स्वप्न देखने में आता है।

भौतिक उत्तेजना दो प्रका की मानी गई है—(१) परिस्थिति जन्य तथा शारीरिक विकार जन्य। यदि मनुष्य गन्दे कमरे में सोता या गन्दे

अस्त्र पहन-ओढ़कर सोता है तो उसे स्वप्न भी गन्दा दिखाई देता है। इस प्रकार भौतिक उत्तेजना भी स्वप्नों का कारण हो सकती है।

सोने से पहिले जो विचार होते हैं, वे भी स्वप्न रूप में दिखाई दे सकते हैं। बहुत-से स्वप्न व्यक्ति के स्वभाव और चरित्र के अनुसार ही साकार हो उठते हैं। मनुष्य की जिधर रुचि होती है उस पर ध्यान भी अधिक रहता। इसलिये स्वप्न उस प्रकार के भी हो सकते हैं।

सुषुप्ति अवस्था में स्वप्न आदि का लोप होजाता है। जब जीव जाग्रत् और स्वप्न के प्रपंचों से थक जाता है, तब निद्रा का आनन्द लेता अध्यात्म पक्ष में निद्रावस्था को अज्ञानान्धकार अवस्था कहा गया है। चौथी अवस्था मूर्च्छा में इन्द्रियाँ काँपती हैं और मनुष्य मृत के समान अचेत पड़ जाता है।

मरणावस्था उक्त चारों अवस्थाओं से भिन्न मानी गई है। इसमें स्थूल शरीर का नाश हो जाता है। उस समय कर्मेन्द्रियों, ज्ञानेन्द्रियों, तन्मात्राओं और प्राण, सभी को संकलिपत करके काम और कर्म से समन्वित हुआ जीव अविद्या के आवेष्ठित होकर अन्य शरीर के साथ परलोक के लिए गमन करता है। उसे पूर्व कर्मों के फल भोग के कारण शान्ति नहीं मिल पाती।

शान्ति तभी मिलती है जब सत्कर्मों का परिपाक होने पर मनुष्य अनेक जन्मों के बाद अपनी भावनाओं को श्रेय-सिद्धि की ओर उन्मुख करता है। वस्तुतः कुविचार सदा ही बन्धन के कारण होते हैं और सुविचार स्वर्ग या मोक्ष प्राप्ति के कारण बनते हैं। यदि मनुष्य अपने कल्याण का इच्छुक होता है तो उन कर्मों को छोड़ देता है, जिनके द्वारा बन्धन से छुटकारा न मिल सकता हो।

सिद्धि चाहने वालों को सदा ही श्रेष्ठ विचार रखने चाहिए। अध्यारोप और अपवाद से स्वरूप का निश्चय किया जाता है और उसी प्रक्रिया में जगत्, जीव और ईश्वर के जीवभाव तथा विश्वभाव का

निराकरण करने पर अपने प्रत्यगात्मा से अभिन्न केवल ओंकार ब्रह्म ही शेष रह जाता है।

इस प्रकार स्वर्ग या मोक्ष की कामना वाले मनुष्य को ओंकार साधना का निश्चय करके उसी में तत्पर होना चाहिए। नारद परिव्राजकोपनिषद् में स्वर्ग प्राप्ति का उपाय बताते हुए कहा गया है—'मुमुक्षु को ओंकार का ही जप-चिन्तन करते हुए शरीर का त्याग करना चाहिए। (विसृजेद्देहं स्मरंस्तारकम)। इसी उपनिषद् में ओंकार को ही तारक मन्त्र बताया है।

प्रणव के तीन भेद और स्वर्ग मोक्ष की प्राप्ति

ब्रह्मा जी ने प्रणव के तीन भेद कहे हैं—(१) ब्रह्म प्रणव संहार प्रणव, (२) सृष्टि-प्रणव, और (३) उभयात्मक प्रणव। ब्रह्म प्रणव के दो अंग हैं व्यष्टि और समष्टि तथा उभयात्मक प्रणव के बाह्याभ्यन्तरिक दो भेद हैं। ब्रह्म प्रणव का ही एक भेद व्यावहारिक प्रणव है। बाह्य प्रणव का अभिप्राय व्यष्टि प्रणव से है। उभयात्मक प्रणव ही विराट् प्रणव कहलाता है। एक भेद आर्ष प्रणव भी है। वस्तुतः ओ३म् रूप एकाक्षर मन्त्र ही अन्तः प्रणव भी माना गया है।

विराट् प्रणव सगुण और संहार प्रणव निर्गुण है, किन्तु सृष्टि प्रणव सगुण और निर्गुण दोनों ही रूप वाला है। विराट् प्रणव में अकारादि

चार मात्राओं की समष्टि है, किन्तु संहार प्रणव में सोलह मात्राएं हैं और यह छत्तीस तत्वों से परे है।

सोलह मात्राओं वाला यही ब्रह्म प्रणव ओत, अनुज्ञातृ, अनुज्ञा और अविकल्प रूप तुरीय से भिन्न न होने के कारण चौंसठ मात्राओं वाला हो जाता है। फिर प्रकृति और पुरुष रूप दो भेदों वाला होने के कारण उसकी एक सौ अट्ठाइस मात्राएं हो जाती है। इस प्रकार एक ही ब्रह्म प्रणव के सगुण, निर्गुणादि रूपों से तथा साधकों के दृष्टि भेद से ओंकार के अनेकानेक रूप होजाते हैं।

ब्रह्म प्रणव परमात्मा का सर्वव्यापक रूप है। वही सर्वशक्तिमान और सर्वगत परमेश्वर है। इसी को परम ज्ञान ज्योति स्वरूप कहते हैं। विश्व में जितने भी देवता तथा प्राणी हैं, सब इसी के स्वरूप भूत हैं। यही समस्त प्रपंचात्मक और वेदात्मक है।

समस्त काल रूप होने से यही महाकाल है। काल इसी के संकेत पर सदैव गतिवान रहता है, किन्तु यह स्वयं महाकाल कहलाते हुए भी कालातीत है। त्रिभुवन रूप भी यही है और त्रिभुवन से परे जो अव्यक्त अविनाशी है, वह भी यह प्रणव ही है।

प्रणव के अर्थ भूत ब्रह्म की आत्मा यही है। इसलिये इसी ब्रह्म को आत्मा में एकीभाव करके इसे अभिन्न, एक, जरा-मरण-रहित, जन्म-रहित, अमृत रूप तथा चिन्मय तत्व मानना चाहिए। वस्तुतः स्थूल, सूक्ष्म और कारण रूप तथा सर्वत्र दिखाई देने वाले प्रपंच को ओंकार में आरोपित करके इस संसार को भी ओंकार रूप ही समझो।

यह आत्मा त्रिविध देह रूप उपाधि सम्पन्न ब्रह्म ही है, क्योंकि यह ब्रह्म रूपी अंशी का ही अंशभूत है। साधक को यह सब हृदयंगम करके आत्मा-परमात्मा में दृढ़ एकीभाव स्थापित करना चाहिए। इस प्रकार आत्म रूप से ओंकार ब्रह्म के चिन्तन का निरन्तर अभ्यास ही स्वर्ग या मोक्ष-प्राप्ति में सहायक सिद्धि हो सकता है।

शरीर का अन्त होने पर मनुष्य स्वकर्मानुसार मुख्य रूप से दो गतियाँ प्राप्त करता है—ऊर्ध्वगति और अधोगति। ऊर्ध्वगति समस्त उच्चलोक या मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। इस जन्म में निम्न वर्ण या निम्न स्थिति में हो तो अगले जन्म में उच्च वर्ण में जन्म होना तथा वर्तमान से अधिक अच्छी स्थिति होना भी ऊर्ध्वगति के अन्तर्गत ही आता है।

अधोगति में मनुष्येतर योनियों में जन्म, जिनमें कीट, पतंग, पशु, पक्षी, वृक्षादि की योनि भी हो सकती है। यदि कर्म अधिक बुरे हैं तो भीषण करकें मैं भी पड़ना हो सकता है। कौन चाहेगा कि इस प्रकार की गति में जाना पड़े ? किन्तु इससे बचने का उपाय क्या हो सकता है ?

माया-मोह तथा विभिन्न वासनाओं में पड़ा हुआ मनुष्य इन बातों पर विचार ही नही करना चाहता। यदि विचार करे तों अधोगति से तो बच ही सकता है। शुभ कर्म सदा ही पाप कर्मों को क्षीण करने में कारण होते हैं। यदि शुभ कर्म न करोगे तो पाप कर्मों का निवारण होगा किस प्रकार ?

ज्ञानीजन इसीलिये निर्देश देते हैं कि मनुष्य जन्म की प्राप्ति का उद्देश्य समझो। यह इसीलिए मिला है कि आत्मोन्नति के लिये कुछ प्रयत्न किया जाय। यदि इस जन्म में भी कुछ नहीं किया गया तो फिर किस जन्म में करोगे ?

अन्य योनियों में तों प्राणी कुछ भी करने के योग्य नहीं होता। क्योंकि उस अवस्था में उसमें न तो ज्ञान होता है, न क्रिया ही। जब यह दोनों ही नहीं तो इच्छा भी कहाँ से उत्पन्न होगी ?

मनुष्य में ज्ञान, इच्छा और क्रिया तीनों ही शक्तियाँ पूर्ण रूप से विद्यमान रहती हैं। परन्तु कितने व्यक्ति ऐसे हैं, जो इनका समुचित रूप से उपयोग करते हैं। यदि करें तो उनके लिये सभी कार्य सम्भव

हो जाँय, संसार में कुछ भी असम्भव न रहे। क्योंकि संसार की समस्त गतिशीलता, समस्त अभिव्यक्तियाँ केवल इन तीन शक्तियों पर ही निर्भर है।

मानव शरीर मिला है तो विषयों का चिन्तन छोड़ दो। ध्यान रखो कि यह सभी विषय नाशवान हैं, सदा इनका उपभोग नही हो सकेगा। जितना भोगोगे इन्हें, उतनी ही अभिलाषाएँ बढ़ेंगी और और अभिलाषाएँ बढ़ेंगी तो तृप्ति के लिये साधनों का मिलना कठिन हो जायगा। इधर अतृप्ति सन्ताप का करण बनेगी और उधर श्रेष्ठ कर्मों के प्रति निष्क्रियता बढ़ेगी। इस प्रकार मनुष्य श्रेय-साधनों से विमुख और पतनोन्मुख होता जायगा।

अमरत्व का ज्ञान उर्ध्वगति की ओर उन्मुख करता है

इसीलिये ज्ञान की प्राप्ति अपेक्षित है। क्योंकि ज्ञान के विना न तो आत्मा के विषय में कुछ जाना जा सकेगा, न परमात्मा के विषय में। वरन् देहाध्यास बढ़ता जायगा बुद्धि सदा ही शारीरिक सुखों की अभिलाषा में लगी रहेगी उसे यह ध्यान ही न होगा कि शरीर नाशवान है, यह आत्मा नहीं है। आत्मा से इसका कोई सम्बन्ध है ही नहीं। क्योंकि आत्मा अमर और अजन्मा है, वह कभी मरता नहीं। शरीर ही जन्म लेता और मरता है।

यदि यह ज्ञान होजाय तो फिर किसी अन्य ज्ञान की अपेक्षा नहीं रहती। विश्व के समस्त ज्ञान-विज्ञान एक इसी ज्ञान में निहित हैं, इसी ज्ञान में समाविष्ट है कि आत्मा देह नहीं है, वही परमात्मा है, ओंकार उसी का रूप है। वही सब कुछ हैं।

जब ऐसा ज्ञान होजाता है तभी मनुष्य आत्मोत्थान को कोई बात सोचता है। तभी उसकी इच्छा शक्ति जाग्रत् होती है और वह देहाध्यास के भ्रम से मुक्त होने लगता है। वह समझ लेता है कि मेरा कल्याण शारीरिक सुख भोग में नहीं है, क्योंकि शरीर से सम्बन्धित जितने भी भोग हैं, वे दुःख के कारण होने से दुःख रूप ही हैं।

इच्छा शक्ति का जागरण ही कर्म के लिए प्रोत्साहन देता है। इच्छा शक्ति से ही क्रियाशक्ति जाग्रत् होती है। विश्व में कर्म उपयुक्त है जो आत्मा के लिये हितकर हो। आत्म-हित से भिन्न कर्म सदैव सन्ताप का कारण होगा।

परमात्मा की प्राप्ति के लिये किये जाने वाले कर्म सदा कल्याणकारी होते हैं। विद्वानों ने उससे सम्बन्धित अनेक प्रकार के कर्मों का निर्देश किया हैं, जिनके अनुसार आचरण करने वाले साधक अपनी उर्ध्वगति का लाभ प्राप्त करने में सफलीभूत होजाते हैं। उनकी इच्छाएं पूर्ण होजाती हैं।

यह कहा जा सकता है कि जब तक शरीर है, तब तक उसकी भौतिक आवश्यकताएँ भी पूरी होनी चाहिए। किन्तु जो लोग भगवान् को प्रसन्न करने के लिए श्रेष्ठ कर्म करते हैं, उनको आत्मलाभ तो होता ही है, सांसारिक आवश्यकताओं की पूर्ति भी स्वतः सम्पन्न होती जाती है।

आत्मोत्थान के लिए किए जाने वाले कर्म सदा श्रेष्ठ गति के सम्पादन में सहायक होते हैं। कर्मकाण्डी विद्वानों ने मरणोपरान्त ऊर्ध्वगति के लिये दो मार्ग निश्चित किये हैं—(१) पितृयान मार्ग, और

(२) देवयान मार्ग। इनमें से पितृयान मार्ग का साधक पितर लोक को प्राप्त होता है, जब कि देवयान मार्ग के साधक को स्वर्गलोक की प्राप्ति होती है।

उपर्युक्त ओंकार-उपासना के अनेकानेक भेद यद्यपि ऊर्ध्वगति के ही कारण हो सकते हैं। बाह्य प्रणव की साधना से विभिन्न प्रकार के ही श्रेय-साधन होते हैं, किन्तु अन्तः प्रणव रूप ब्रह्म प्रणव के द्वारा स्वर्ग-लोक की प्राप्ति सहज सम्भव है।

इस प्रकार रूप भेद से ओंकार-साधना के भी अनेकानेक भेद हो सकते हैं। उन साधनाओं को विकास बहुत कुछ बुद्धि विकास पर भी निर्भर है। जो साधक अपनी बुद्धि को जितनी ही अधिक विवेकमयी बना लेता है, वह उतने ही अधिक श्रेय-सम्पादन में सफल हो सकता है। क्योंकि जीव जितना और जैसा कर्म करेगा, उतना वैसा ही फल भी प्राप्त कर लेगा। चाणक्य का कथन है—

स्वयं कर्म करोत्यात्मा स्वयं तत्फलमश्नुते।
स्वयं भ्रमति संसारे स्वयं तस्माद्विमुच्यते ।।

अर्थात्—जीव स्वयं ही कर्म करता है और स्वयं ही उसका फल भोगता है। स्वयं ही संसार में भ्रमण करता है और स्वयं ही उससे मुक्त होजाता है। इसमें उसका कोई साक्षी नही है।

इस प्रकार वह अपने ही कर्मों का फल भोगने का अधिकारी होता है। यदि अशुभ कर्म करता है। तो अशुभ फल भोगना होगा और शुभ कर्म करेगा तो शुभ फल मिलेगा। अशुभ कर्म सदाही अधोगति के कारण होते हैं। मनुष्य वासना से पंक में फँस कर शुभ कर्म नहीं कर पाता तो उसकी दशा वही होती है, जो कर्महीन मनुष्य की होनी चाहिए।

आत्मा की उन्नति के लिए हम जो कर्म करते हैं, वे सभी कर्म अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार फल देने वाले होते हैं। उन-उन कर्मों

में शक्ति का समावेश साधक की साधना पर निर्भर होता है। साधना में जितनी तन्मयता और क्रियाशीलता होगी, उतनी ही कर्म की शक्ति बढ़ेगी। एक ही कर्म के अनेक प्रकार के फल देखे जाने में मुख्य कारण यही सिद्धान्त है।

उपलब्धियों का स्रोत साधना

लौकिक सुख-शान्ति, वैभव, सुकीर्ति तथा समृद्धि आदि की सफलता से लेकर पारलौकिक ऐश्वर्य तथा दिव्यानन्द की प्राप्ति, स्वर्ग, मोक्ष तथा ब्रह्मप्राप्ति आदि समस्त सम्भावित उपलब्धियों का स्रोत एक मात्र साधना ही है। बिना साधना के किसी प्रकार का लाभ सम्भव नहीं। इसी कारण हमारे प्राचीन आचार्य अपने उपदेशों में साधना पर ही बल दिया है।

इसमें ऐसा कोई नियम नहीं है कि साधना किस व्यक्ति को करनी चाहिए। स्त्री, पुरुष, बालक, वृद्ध कोई भी अपनी इच्छा और शक्ति के अनुसार साधना कर सकता है। यह भी आवश्यक नहीं कि कठिन या दुष्कर साधना ही की जाय अथवा वही साधना फलवती हो सकती हो।

अपनी-अपनी स्थिति और अवकाश के अनुसार उचित विधि का उपयोग किया जा सकता है। जो साधक साधना का अनुकूल ढँग जानना चाहें उन्हें किसी सद्गुरु के निर्देशन में साधना करनी चाहिए। यदि उपयुक्त गुरु न मिले तो स्वयं भी उसका निश्चय कर सकते हैं।

रामोत्तरतापिनीय-उपनिषद् में कहा गया है कि 'जहाँ भौंहों और नासिका की सन्धि है वहीं स्वर्ग है और उससे ऊपर परब्रह्म का सन्धि स्थान है। स्वर्ग की कामना वाले या ब्रह्मज्ञानी भी भौंहों के मध्य भाग में उसकी साधना करते हैं।

अभिप्राय यही है कि भौंहों के मध्य भाग में ही आज्ञाचक्र है। उसमें ओंकार का ध्यान करने वाले योगीजन स्वर्ग रूप मोक्ष को सहज में ही प्राप्त हो जाते हैं। सौभाग्यलक्ष्मी उपनिषद् में 'योग से ही योग की वृद्धि होने की बात कही हैं। इसलिये योग साधना के विषय में जानने के लिये ज्ञान योग का आश्रय लिया जाना चाहिए।

योग में बड़ी शक्ति है। जिसे योग सिद्धि हो जाय, उसकी सामर्थ्य की तुलना कौन कर सकता है? क्योंकि योगी पुरुषों के लिये तीनों लोकों में भी कुछ दुर्लभ नहीं है। यदि उसे शरीर से प्रेम हो तो शरीर में ही रहता हुआ अणिमादि सिद्धियों से युक्त हुआ सभी लोकों में विहार कर सकता है। उसे जिसमें सुख प्रतीत हो उस कार्य में किसी प्रकार बाधा नहीं होती।

यदि वह स्वर्ग की कामना करे तो ओंकार-साधना के ही प्रभाव से वह देवयान मार्ग का अधिकारी हो सकता है। देवयान का कार्य दिव्य मार्ग के द्वारा स्वर्ग पहुँचना है ओंकार रूप महान् स्वर्गद्वार में प्रवेश करता हुआ देवयान अधिकारी साधक को सहज में ही स्वर्ग की प्राप्ति करा देता है।

योग का अभिप्राय हठयोग की उन कठोर क्रियाओं से ही नहीं है, जिन्हें हर कोई नहीं कर सकता। वरन् योग का अर्थ है जोड़ अथवा मिलन। जिस क्रिया के द्वारा एक वस्तु दूसरी वस्तु से मिलती है, उसे योग कहते हैं। अध्यात्म पक्ष में जिस क्रिया द्वारा मन अपने आराध्य में सलग्न होजाय, वह क्रिया योग कही जातीं है। जप, तप, पूजन, संकी-

र्तन, ध्यान आदि सब योग की ही क्रिया है। इनका अभ्यास करना योगाभ्यास करना ही है।

किसी प्रकार की भी साधना करें, उसका परिणाम सिद्धि के रूप में अवश्य प्राप्त होता है। यह एक भिन्न बात है कि साधक की साधना किस स्तर की है और उसे किस प्रकार की सिद्धि होती है।

सिद्धियों के अनेक रूप हैं। प्राचीन समय में सिद्ध पुरुष बड़े-बड़े आश्चर्यजनक कार्य करते थे। वे कार्य केवल चमत्कार रूप में ही नहीं होते थे, उनके द्वारा मनुष्यों और मनुष्येतर प्राणियों का लाभ भी होता था। वे जो कुछ कह देते थे, वह होकर रहता था उन सिद्ध पुरुषों में भविष्यवाणी करने की सामर्थ्य भी थी।

वर्तमान समय में उस प्रकार के सिद्ध पुरुष हैं अथवा नहीं, यह तो निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। किन्तु आज भी बहुत-से व्यक्ति अनेक प्रकार के आश्चर्यप्रद कार्य दिखाने में सफल रहते हैं। ऐसी बातें समाचार पत्रों में भी बहुत बार पढ़ने को मिल जाती है।

एक बार कैलिफोर्निया में स्वामी विवेकानन्द ने इसी प्रकार के चमत्कारों की चर्चा करते हुए कहा था कि उन्होंने ऐसी कुछ घटनाएँ स्वयं देखी हैं, जिन्हें चमत्कार ही कहा जा सकता है।

वस्तुत: स्वामीजी ने एक व्यक्ति के विषय में सुना कि वह किसी भी व्यक्ति के मन में आये हुए प्रश्नों का उत्तर प्रश्न सुनने से पूर्व ही बता देता है। स्वामीजी के मन में इस विषय में उत्सुकता उत्पन्न हुई और उन्होंने उस व्यक्ति के पास जाकर प्रश्न पूछने के लिये उसे एक कागज पर लिख लिया। अन्य व्यक्तियों ने भी जो उनके साथ थे, ऐसा ही किया।

स्वामीजी के भाषणों की संकलित पुस्तक में इस घटना के विषय में छपा था कि 'उस मनुष्य ने कागज पर कुछ लिखा, उसे मोड़ा और उसके पीछे मुझे हस्ताक्षर करने लिये कहा और बोला—'इसे पढ़ो

मत, जेब में रख लो, जब तक कि मैं इसे फिर न माँगू।' इस प्रकार उसने हरेक से कहा।

बाद में उसने हमें हमारे भविष्य की कुछ बातें बताईं और कहा—'अब किसी भी भाषा का कोई शब्द या वाक्य तुम लोग अपने मन में सोच लो।' मैंने संस्कृत का एक लम्बा वाक्य सोच लिया। वह मनुष्य संस्कृत बिल्कुल न जानता था। उसने कहा—'अब अपने जेब का कागज निकालो।' कैसा आश्चर्य, वही संस्कृत का वाक्य उस कागज पर लिखा था और नीचे यह भी लिखा था कि 'जो कुछ मैंने इस कागज पर लिखा है, वही यह मनुष्य सोचेगा।' और यह बात उसने एक घण्टा पहिले ही लिख दी थी।

फिर हममें से दूसरे को, जिसके पास भी उसी तरह का एक दूसरा जागज था कोई एक वाक्य सोचने को कहा गया। उसने अरबी भाषा का एक फिकरा सोचा। अरबी भाषा का जानना तो उसके लिये और भी असम्भव था। वह फिकरा था 'कुरान शरीफ' का। लेकिन मेरा मित्र क्या देखता है कि वह भी कागज पर लिखा है।

हममें से तीसरा व्यक्ति एक वैद्य था। उसने किसी जर्मन भाषा की वैद्यकीय पुस्तक का वाक्य अपने मन में सोचा था। उसके कागज पर वही वाक्य लिखा था।'

स्वामीजी कहते हैं कि 'यह सोच कर कि कहीं पहिले मैंने धोखा न खाया हो, कई दिनों बाद में फिर दूसरे मित्रों को साथ लेकर वहाँ गया किन्तु इस बार भी उसने वैसी ही आश्चर्यजनक सफलता प्राप्त की।'

सिद्धियाँ और उनकी असाधारण सामर्थ्य

इससे स्पष्ट है कि सिद्धियों के बल पर मनुष्य बड़े-बड़े चमत्कार दिखा सकता है। योग-सिद्धि के रूप में निम्न आठ सिद्धियाँ प्रसिद्ध हैं—(१) अणिमा, (२) महिमा, (३) गरिमा, (४) लघिमा, (५) प्राप्ति, (६) प्राकाम्या, (७) ईशत्व, और (८) वशित्व।

इन सिद्धियों में प्रथम प्रकार की सिद्धि के प्रभाव से शरीर को अणु के समान सूक्ष्म कर लेने की शक्ति प्राप्त होती है। इसके फल-स्वरूप साधन सूक्ष्म से सूक्ष्म वस्तु में भी प्रविष्ट हो सकता है। रामायण में हनुमानजी के लंका-प्रवेश का जो प्रसंग आता है, उसमें उन्होंने जो अत्यंन्त सूक्ष्म रूप धारण किया था, वह इसी सिद्धि का प्रभाव था। सुरसा के मुख में प्रवेश कर निकलने में भी यही सिद्धि उनके कार्य में सहायक हुई थी।

दूसरे प्रकार की सिद्धि (महिमा) के द्वारा शरीर को बड़े से बड़े आकार का बनाया जा सकता है। हनुमानजी द्वारा अनेक स्थानों पर वृहदाकार धारण करने का जो वर्णन मिलता है। उसमें इसी सिद्धि का प्रभाव रहा था।

तीसरी सिद्धि (गरिमा) के द्वारा शरीर को बहुत भारी बनाया जा सकता है। चौथी सिद्धि लघिमा के प्रयोग से सिद्ध पुरुष अपने शरीर को इच्छित रूप में हल्का बना सकता है।

पाँचवीं सिद्धि (प्राप्ति) के द्वारा सुदूरमें विद्यमान पदार्थों को इच्छानुसार प्राप्त किया जा सकता है। हजारों किलोमीटर दूर बैठा हुआ सिद्ध चाहे जिस वस्तु को वही से स्पर्श कर सकता है।

छठी सिद्धि प्राकाम्या समस्त अभिलाषाओं को पूर्ण करने में समर्थ है। सिद्ध पुरुष जब जिस वस्तु की कामना करे, तभी उसे वस्तु विना प्रयास ही प्राप्त हो सकती है।

ईशत्व नामक सातवीं सिद्धि शरीर और मन के भीतरी संस्थानों तथा चक्रों पर पूर्ण स्वामित्व प्राप्त कराती है। संसार के समस्त पदार्थों का उपयोग इस सिद्धि के वल पर किया जा सकता है।

आठवीं सिद्धि वशित्व के द्वारा भी सिद्ध पुरुष को एक प्रकार की विशेष सायर्थ्य प्राप्त होती है। ऐसा योगी जिस वस्तु को चाहे अपने अधीन रख सकता है।

कुछ आचार्यों ने अन्य अष्ठसिद्धियों की चर्चा की है। वे हैं (१) आत्मसिद्धि, (२) विविधा सिद्धि, (३) ज्ञान सिद्धि, (४) तप सिद्धि, (५) क्षेत्र सिद्धि, (६) देवसिद्धि, (७) शरीर सिद्धि, और (८) विक्रिया सिद्धि। इनमें से प्रथम प्रकार की सिद्धि इन्द्रिय-संयम, मनोनिग्रह, स्थित-प्रज्ञता, आत्त-साक्षात्कार, भूतजय, साँसारिक बन्धनों से मुक्ति आदि से सम्बन्धित होने के कारण सर्वश्रेष्ठ तथा आध्यात्मिक पक्ष में अत्यु-पयोगी है।

विविधा सिद्धि के द्वारा पंचतत्वों पर नियन्त्रण होता है तथा उनके द्वारा अभीष्ट वस्तुओं की प्राप्ति और इच्छित परिस्थितियों की उत्पत्ति हो सकती है।

ज्ञानसिद्धि के द्वारा बुद्धि तीक्ष्ण होती है, स्मरण शक्ति बढ़ जाती है, भूत-भविष्य की घटनाओं और पूर्व जन्म सम्बन्धी वृत्तान्तों का ज्ञान हो जाता है, समस्त शास्त्रों के सार ग्रहण वाली बुद्धि उत्पन्न होती तथा निस्पृह प्रेम का हृदय में आविर्भाव होता है।

तपसिद्धि के द्वारा साधक को कठोर तप करने की शक्ति प्राप्त हो जाती है। ऐसा साधक भूख-प्यास पर नियंत्रण, शीतोष्ण सहन

तथा जल, थल, आकाशादि में सर्वत्र विचरण की सामर्थ्य प्राप्त कर लेता है।

क्षेत्रसिद्धि के द्वारा अल्प स्थान में ही बहुत विशाल वस्तुओं को रखने की सामर्थ्य प्राप्त हो जाती है। ऐसा साधक अपने सूक्ष्म शरीर के द्वारा देश:देशान्तरों और लोक-लोकान्तरों में भ्रमण की शक्ति प्राप्त कर लेता है। वह अपने शरीर में विद्यमान देवताओं (चक्रादि) के साक्षात्कार का लाभ भी उठा लेता है।

देवसिद्धि के द्वारा वक्ष, गन्धर्व, भूत, प्रेत, पिशाच, ब्रह्म राक्षस, छाया पुरुष आदि का अनुग्रह और सहयोग प्राप्त हो सकता है। कुण्ड-लिनी जागरण और षट्चक्र भेदन तथा मन्त्र सिद्धि आदि का सुयोग भी उपलब्ध हो जाता हैं।

शरीर सिद्धि के द्वारा साधक दृष्टि मात्र से दूसरों को रोग रहित कर सकता है। ऐसे साधक में अत्ययंत मनोबल, भाषण शक्ति, चिन्तन शक्ति आदि की सामर्थ्यं उत्पन्न होजाती है। वह स्वल्प आहार से ही बहुतों को तृप्त कर देता है।

महाभारत में एक प्रसंग आता है—पाण्डवगण वनोवास में थे, भोजन कर चुके थे, तभी अपने शिष्यों सहित दुर्वासा आगये और बोले कि 'हम सब स्नान करके आते हैं, इसके बाद भोजन करेंगे।' यह कह कर वे तो स्नान करने चले गये. किन्तु द्रौपदी अत्यन्त चिन्तित हो उठी। 'कहाँ से आयेगा इतना अन्न ?' उसने भगवान् कृष्ण का स्मरण किया। पुकारने लगी—'रक्षा करो प्रभो ! दुर्वासा को भोजन न मिला तो शाप देकर ही भस्म कर डालेंगे।'

उसी समय कृष्ण आ पहुँचे उसकी बात सुनने से पहिले ही बोले—'द्रौपदी ! बड़ी भूख लगी है, कुछ खाने को लाओ। क्या लाती द्रोपती ? अपनी विवशता बता दी। भगवान् बोले—'अच्छा, वह खाली पात्र ही ले आओ, कुछ लगा होगा तो खालूँगा।'

द्रोपदी खाली पात्र उठा लाई। भगवान् ने देखा—उसमें चावल का एक कण लगा हैं। उसी को निकाल कर खालिया और बोले 'द्रौपदी तुम्हें चिन्ता थी वह दूर हो गयी। चावल का एक कण खाकर में तृप्त होगया तो संसार के सभी प्राणी तृप्त होगये। अब दुर्वासा और उनके शिष्यों को भी भूख नहीं रही। इसलिए वे अब यहाँ नहीं आयेंगे।'

यही हुआ दुर्वासा और उनके शिष्यों की भूख नष्ट हो गई। वे वहीं से अपने स्थान को लौट गये। यह शरीर सिद्धि का ही प्रभाव था, जिसके बल पर श्रीकृष्ण ने चावल के कण में ही समस्त विश्व को तृप्त कर दिया था।

विक्रिया सिद्धि के द्वारा अपने शरीर को अन्य शरीरों में परिवर्तित करने की सामर्थ्य प्राप्त होती है। इसके प्रभाव से योगी चाहे जैसा रूप धारण कर सकता है। वह शरीर को चाहे जितना हल्का, चाहे, जितना भारी, चाहे जितना छोटा, चाहे जितना बड़ा बना सकता है। उसे अन्त-र्धान होने की शक्ति की प्राप्त हो जाती है।

उक्त सिद्धियों के अतिरिक्त और भी बहुत-सी सिद्धियाँ कही गई हैं। उत्क्रान्ति, ज्वलन, दिव्य श्रवण, आकाश-मार्ग गमन, प्रकाशावरण क्षण परकाया प्रवेश, जल पर चलना, अग्नि में न जलना, श्रवणमात्र से सही अनुमान कर लेना, आधिभौतिक ताप सहन करने की शक्ति, आधिदैविक ओर आध्यात्मिक ताप सहन की शक्ति, शास्त्रज्ञान सिद्धि, अन्तःकरण में तत्वज्ञान का स्फुरण आदि अनेकानेक सिद्धियाँ है। इनमें से कुछ कठिन और सरल समझी जाती है।

कहीं-कहीं देखने में आता है कि मनुष्य जो कुछ खाना चाहता है, सिद्धि पुरुष वही वस्तु उपलब्ध करा देता है। एक सिद्ध के विषय में कहा जाता है कि वह आने वालों से पूछता—'क्या खाओगे ?' भक्त

कहता 'गर्म इमरती खिलाओ महाराज ! फिर क्या था, सिद्ध ऊपर की ओर हाथ करके कहा कि 'ला भई, गर्म इमरती लेकर आ' और क्षण भर बीतते-बीतते ही सिद्ध के हाथ में इमरतियों का दोना आजाता। वह भी गर्म इतरियों का। इसी प्रकार कोई अन्य वस्तु की माँग करता तो सिद्ध जी उसे वही वस्तु मँगा कर देते।

चमत्कार साधना में बाधक हैं

एक अन्य सन्त थे। उनके पास भक्तों का आवागमन अधिक था उनकी सिद्धि की प्रसिद्धि बढ़ गई थी। वे चमत्कार रूप में नोटों के बण्डल, जेवर आदि मँगा देते थे। परन्तु वे सभी वस्तुएँ देखने को मँगाते और फिर गायब कर देते। उनका कहना था कि यह दूसरे की वस्तुएँ हैं, इस पर मेरा अधिकार नहीं है। जिस स्थान से मँगाता हूँ, वहीं भेज देता हूँ।

उनके एक भक्त के मन में परीक्षा लेने की हुई। उसके पास नहीं से एक-एक हजार के चार नोट आये थे। उसने उनके नम्बर अपनी डायरी में नोट किये और सेफ में बन्द करके सिद्ध के पास आकर बोला 'महाराज आज में भी कुछ चमत्कार देखना चाहता हूँ।' सिद्ध ने पूछा—'बोल क्या देखना चाहता है ? उसने कहा कि 'मुझे एक-एक हजार के दस नोट चाहिए।' सिद्ध बोले—'कुछ देर प्रतीक्षा करो।'

थोड़ी देर में ही कुज नोट सिद्ध की गोद में आ गिरे। देखे तो एक-एक हजार के दस नोट थे। भक्त को देते हुए उसने कहा—'देख

ले, दस हैं न ? दो जगह से मँगाने पड़े हैं—चार एक एक जगह से और छः दूसरी जगह से।'

भक्त ने नोटों को देखा, उनमें चार नोट वही थे, जिन्हें अपने सेफ में रख आया था। नम्बर मिलाये तो बिल्कुल वही सिद्ध बोला–'देखता क्या है ? तेरी ही तिजोरी से आये हैं यह चार नोट चाहे तो घर जाकर देख ले।'

आश्चर्य में भरा हुआ भक्त अपने घर पहुँचा। सेफ देखो तो उसी प्रकार ताले लगे हुए थे। खोलकर देखा तो एक-एक हजार के चारों नोट नदारद। समझ गया कि यह सब सिद्धि का खेल है। लौट कर सिद्ध के पास पहुँचा तो उसने कहा—'सब नोट वापस कर दिये हैं, तू भी अपनी तिजोरी में जाकर देख ले।' और वह पुनः लौटकर घर गया, सेफ खोल कर देखने पर चारों नोट उसमें रखे मिल गये।

स्वामी विवेकानन्द ने भी अपने अनुभव सुनाते हुए इसी प्रकार की एक सिद्धि की चर्चा की थी। उन्होंने एक व्यापारी की सिद्धि के विषय में सुना तो उसके पास पहुँचे और उससे चमत्कार दिखाने का आग्रह किया। उनके साथ और भी बहुत-से व्यक्ति थे। उस व्यक्ति ने कहा कि 'आप लोगों को जिस-जिस वस्तु की आवश्यकता,हो वही-वही कागज पर लिख दीजिये।'

सब लोगों ने उन-उन फलों के नाम लिखे जो न वहाँ पैदा होते थे, न मिल सकते थे—जैसे अंगूर के गुच्छे, सन्तरे इत्यादि। वे सब कागज उसके हाथ में देदिये गये। तब उसके कम्बल में से अंगूर के गुच्छे, सन्तरे आदि इतनी संख्या में निकल पड़े कि यदि उन्हें तोला जाता तो वे सब उस मनुष्य के वजन से भी दुगुने वजन के होते।

उसने हमसे उन फलों को खाने के लिये कहा। कुछ लोगों ने जादू-टोना समझ कर वे फल नहीं खाये, किन्तु जब उसने स्वयं खाना

आरम्भ कर दिया तब हमने भी उन्हें खाकर देखा। वे सभी फल खाने के योग्य थे।

अन्त में उसने गुलाब के फूल निकाले। प्रत्येक पुष्प पूर्ण रूप से खिला हुआ था। पंखुड़ियों पर ओस की बूँदें थी। कोई भी पुष्प टूटा या खराब नहीं था। उसने वे पुष्प एक दो नहीं ढेर के ढेर निकाल दिये।'

अभी कुछ दिन पहले मथुरा में एक गुदड़िया बाबा नाम का साधु था। वह टाट की गुदड़ी पहिने शहर में घूमता रहता। उसके पाँवों में बहुत-सी घड़ियाँ बँधीं रहतीं, इस कारण वह अधिक कौतूहल का विषय बना हुआ था। इसलिए उसके साथ बालकों की भीड़ चला करती।

एक दिन उसके पास एक भक्त ने अपनी कन्या के विवाह के लिए कुछ रुपयों की आवश्यकता बताई और कुछ उपाय करने के लिये गिड़-गिड़ाने लगा। कहते हैं कि बाबा ने निश्चित समय पर रुपया वापिस कर देने का वचन लेकर उसे अपेक्षित मात्रा में नोट उपलब्ध करा दिये। उसने देखा कि वे नोट नये हैं।

वह व्यक्ति भी वायदे का पक्का निकला। निश्चित समय पर नोट लाकर उसने बाबा के सामने रख दिये और बोला—'बाबा! सँभाल लीजिये।' बाबा बोला—'तू क्या झूठ बोलेगा? बस, अब इतना काम कर कि इन नोटों को यमुना में बहा दे।'

वह आश्चर्य से बाबा की ओर देखने लगा। बाबा बोला—'देखता क्या है? जो कहता हूँ वह कर।' यह सुन कर उसने उन नोटों को उठाकर यमुना मेंबहा दिया और लौट कर बाबा कोवैसा करोकी सूचना दी। तब बाबा ने बताया—'देख भैया! यह रुपया मैंने यमुना मैया से उधार लिया था, जिसका वापस करना आवश्यक था। इसीलिये यह नोट यमुना में बहाये गये हैं।

अभिप्राय यह है कि सिद्धियाँ अनेक प्रकार की हैं। यदि उनका उचित उपयोग किया जाय तो मानव जाति का बहुत कुछ उपकार हो सकता है। परन्तु आत्म-लाभ की दृष्टि से कोई भी सिद्धि हितकर नहीं हो सकती। महर्षि पतंजलि ने 'ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः' कह कर स्पष्ट कर दिया है कि 'यह सिद्धियाँ समाधि में विघ्न स्वरूप हैं।

जब तक इन सिद्धियों में मन रहेगा, तब तक भौतिक लाभ या चमत्कारिक स्थिति भले ही प्राप्त होजाय, आध्यात्मिक पक्ष में अलाभकर ही हैं। योगदर्शन के अनुसार--

तद्वैराग्यादपि दोषवीज क्षये कैवल्यम्।

अर्थात्---इन सिद्धियों से मन को हटा लेने पर दोष-बीज नष्ट होने पर मोक्ष प्राप्त होजाती है।

इस प्रकार जिन्हें स्वर्ग या मोक्ष प्राप्ति की आकांक्षा हो, उन्हें किसी भी सिद्धि की इच्छा नहीं करनी चाहिए। यद्यपि साधना-काल में अनेक छोटी-मोटी सिद्धियाँ स्वतः उपलब्ध होने लगती है। वस्तुतः वे सब आत्मोत्थान के मार्ग में क्रमश उत्तरोत्तर चढ़ाने वाली सोपान है। न चाह हुए भी उन पर पाँव तो रखना ही होता हैं। किन्तु किसी एक सोपान पर ही रुक जाँय तो लक्ष्य तक नहीं पहुँच सकते। यही स्थिति इन सिद्धियों के सम्बन्ध में समझनी चाहिए।

सिद्धियों के प्राप्त होने पर भी सिद्ध बनने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए। बहुत से व्यक्ति लोगों को प्रभावित करने के लिए उनका प्रदर्शन करते हैं, जिससे उनका अपना कोई पारलौकिक लाभ तो हो ही नहीं सकता। यह बात भिन्न है कि वे सिद्धियां उन्हें धन, वैभव और ख्याति की प्राप्ति में अधिक सहायक बन जाँय।

हम यह नहीं कहते कि सिद्धियाँ उपलब्ध हों तो उन्हें ठुकरा दिया जाय, वरन् उचित यह है कि कोई भी साधना क्षुद्र सिद्धियों की प्राप्ति

के उद्देश्य से न की जाय। क्यों कि कोई भी सिद्धि तभी प्राप्त हो सकती है जब साधना में मानसिक और आत्मिक योग में किसी प्रकार की कमी न रहे।

साधना छोटी हो या बड़ी, सिद्धि क्षुद्र हो अथवा महिमामयी, सभी मन और आत्मा को योग तो समान रूप से लगाना होता हैं। सर्व प्रथम तो शरीर को हीं इस योग्य बनाना होता है कि वह किसी प्रकार की थकान या असुविधा का अनुभव न करे। योगियों ने इसी दृष्टि से आसन, प्राणायाम आदि के अभ्यास को आवश्यक माना है। विभिन्न प्रकार की मुद्राएँ और बन्ध आदि भी इसी उद्देश्य से किये जाते हैं कि शरीर उनका अभ्यस्त हो जाय।

सभी प्रकार की साधनाओं में आसन का महत्व रहता है। आसन का अभिप्राय उन योगासनों से ही नहीं है, जिन्हें योगग्रन्थों ने अनेक प्रकार के कहा है। वरन् जिस स्थिति में बैठने से सुविधा रहे, वही उपयुक्त आसन है। तात्पर्य यह है कि उस स्थिति में बैठने का अभ्यास करना चाहिये जिस साधना के लिये अधिक समय तक बैठने में किसी प्रकार के कष्ट का अनुभव न हो।

प्राणायाम का अभ्यास श्वास-निःश्वास को नियमित करने के लिये किया जाता है। यदि श्वास में अनियमितता रहती है तो भी साधना ठीक प्रकार से नहीं हो सकती। किन्तु प्राणायाम के द्वारा प्राण, मन और आत्मा तीनों में ही उत्कर्ष की उपलब्धि होती है।

प्राणायाम मन के संयम में बहुत सहायक होता है। वस्तुतः मन का संयम साधक के लिये बहुत ही आवश्यक है। क्योंकि मन ही समस्त भ्रान्तियों का मूल है। यदि वह उन भ्रान्तियों से मुक्त न हो तो साधना में उत्कर्ष की सम्भावना नही होती।

विद्वानों ने शरीर को आत्मा का वाहन या रथ माना है। यदि

वाहन अस्वस्थ हो तो सारथी उसका उपयोग किस प्रकार कर सकता है। इसलिये शरीर का स्वस्थ होना आवश्यक है।

और मन, उस शरीर रूपी रथ में अश्व रूप है। अश्व का सुशिक्षित और संयमित रहना उससे भी अधिक आवश्यक है। यदि अश्व अशिक्षित, उच्छृंखल और अनियन्त्रित है तो वह रथ को किसी भी खाई-खड्डे की ओर ले जा सकता है।

मन से ही बन्धन और मोक्ष

सांसारिक विषयों में वैसा ही आकर्षण है, जैसा विष भरे हुए स्वर्ण-घट में। सभी उसे ललचायी आँखों से देखते हैं, किन्तु उन्हें क्या मालुम कि भीतर मारक जहर भरा है। बहुत-से व्यक्ति उस जहर को ही अमृत समझ कर तब तक पीते रहते हैं, जब तक कि वह उन्हें निष्क्रिय न बना दे।

जिन्हें शराब का नशा अच्छा लगता है, वे उसके दोषों को नहीं देखते। जान-बूझ कर भी अनजाना कर देते हैं उन दोषों को। उसके परिणाम स्वरूप शरीर में अनेक दोष, अनेक प्रकार की विकृतियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। उस प्रकार के परिणाम की चिन्ता शराबी को हो नहीं पाती।

मन की वही दशा है। उसी के द्वारा बन्धन मिलता है तो उसी के द्वारा मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। यदि मन विषयों में आसक्त है तो

वह जन्म मरण के बन्धन का कारण रहता है। क्योंकि विषय ही उसे बारबार संसार में जन्म लेने के लिये बाध्य करते रहते हैं। प्राणी उन्हें भोगता ही है और तृप्त नहीं हो पाता। जितना भोगेगा, उतनी ही आकांक्षा बढ़ेगी।

परन्तु, विषयों से विमुख हुआ मन ही उत्कर्ष का कारण होता है। संसार में रहते हुए शारीरिक आवश्यकताएँ तो पूरी करनी ही होंगी। किन्तु आवश्यकता भर के लिये किये जाने वाले भोगों से मन में उनके प्रति आसक्ति उत्पन्न नहीं होती है। जो कार्य अनिवार्य है, उसका किया जाना अनुपयुक्त नहीं है। उससे किसी प्रकार ये बन्धन की आशंका नहीं की जानी चाहिए।

मैत्रेयी-उपनिषद् में मन के विषय में दो बातें विशेष रूप से कही गई हैं—(१) मन ही पवित्रता का कारण है, और (२) मन के सहयोग से ही आत्म-दर्शन हो सकता है। उपनिषत्कार ने इस प्रकार कहा है—'मन के मैल को त्याग देना ही स्नान है। मन और इन्द्रियों को वश में कर लेना ही पवित्रता है। शारीरिक मलों की शुद्धि मिट्टी और जल आदि के द्वारा होती है, किन्तु वह तो लौकिक शुद्धि मात्र है। यथार्थ रूप से शुद्धि तो मन से मोह और अहंकार का त्याग करने पर ही हो सकती हैं। वास्तविक शुद्धि वही है जो ज्ञान रूप मिट्टी और वैराग्य रूप जल के द्वारा धोने पर प्राप्त होती हो।

इसी उपनिषद् ने कहा है कि 'तप के द्वारा ज्ञान की प्राप्ति होती है। ज्ञान प्राप्त होने पर, ज्ञान के द्वारा ही मन पर अधिकार प्राप्त किया जा सकता है। जब मन वश में होजाता है तभी आत्मा की प्राप्ति हो पाती है। आत्मा की प्राप्ति होने पर ही प्राणी को संसार से छुटकारा मिल सकता है।

मनुष्य का चित्त बाह्य विषयों में जितना आसक्त रहता है, यदि उतना परब्रह्म में आसक्त होजाय तो सांसारिक बन्धनों से सहज में ही

मुक्ति मिल सकती है। मुनि द्वारा निर्दिष्ट यह तथ्य हम सभी के लिये विचारणीय और माननीय है।

इसी उपनिषद् ने मन को ही संसार की संज्ञा देते हुए कहा है कि मन ही संसार है, इसी को प्रयत्न पूर्वक शुद्ध करना चाहिए। जिस मनुष्य का जैसा मन होता है, वह वैसा ही बन जाता है। शान्त मन वाला मनुष्य ही आत्मा को प्राप्त होता हुआ अक्षय आनन्द को प्राप्त करता है, यही सनातन रहस्य है।

मन पवित्र हो तो वाणी भी पवित्र हो जाती है। मन और वाणी दोनों पवित्र हों तो फिर कोई अन्य दोष नहीं रहता। श्रवण, अध्ययन, जप, योग कुछ भी करो मन-वाणी के पवित्र हुए बिना कभी श्रेष्ठ फल देने वाला नहीं होता।

मन जब इन्द्रियों के विषयों में आसक्त होता है तब अनेकों दोष उत्पन्न होजाते हैं। किन्तु मन के वश में न रहने के कारण इन्द्रियाँ भी वश में नहीं रहतीं। यदि इन्द्रियाँ ठीक प्रकार से वश में होजाँय तो उनके द्वारा ही सिद्धि प्राप्त हो सकती है।

नारदपरिव्राजक-उपनिषद् में कहा गया है कि जब तक भोगों का उपभोग किया जाता रहेगा, तब तक विषयों की कामनाओं का शान्त होना भी असम्भव है। क्योंकि जैसे अग्नि में घी पड़ने से ज्वालाएँ अधिक प्रदीप्त होजाती हैं, वैसे ही भोगों के प्राप्त होने से वासनाएँ अधिक बढ़ जाती हैं।

बृहदारण्यक ने ब्रह्म की प्राप्ति का उपाय बताते हुए कहा है— जब तक कामनाएँ हृदय में विद्यमान रहती हैं तब तक कुछ नहीं होता।' 'जब हृदयस्थ कामनाओं का नाश हो जाता है, तभी यह मरणधर्मा मनुष्य अमृत हो पाता है। इसी के प्रभाव से उसे इसी देह में ब्रह्म की प्राप्ति होजाती है।

———

शुद्ध अन्न से ही मन की शुद्धि

मन, चित्त, हृदय या अन्तःकरण परस्पर एक दूसरे से सम्बन्धित हैं। इनमें से एक के अशुद्ध होने पर अन्य भी अशुद्ध हो जाते हैं। पाशुपतब्रह्मोपनिषद् ने अन्तःकरण की शुद्धि पर ही अधिक जोर दिया है। उसके अनुसार—'ह पराविद्या सत्य, तप और ब्रह्मचर्य से वेदान्त मार्ग के द्वारा ही प्राप्त हो जाती है। जिनके अन्तःकरण शुद्ध हैं तथा जिनके दोष क्षीण होगये हैं, वे ही अपने भीतर स्वयं प्रकाशमान परमात्मा को देख सकते हैं। माया में फँसे हुए उनको नहीं देख सकते।'

और मन पर अन्न का बड़ा अधिकार है। यदि अन्न अच्छा है तो मन भी अच्छा होगा, अन्न अशुद्ध है तो मन भी दूषित हो जायगा। क्योंकि—

तस्माद्वा एतस्मादन्नरसमयादन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः, तेनैष पूर्णः, सवा एष पुरुष विध एव।

—तैत्तरीय २।२

अर्थात्—इस अन्न और रसयुक्त शरीर के भीतर जो प्राणमय पुरुष है, वह अन्न से व्याप्त है और यह प्राणमय पुरुष ही आत्मा है।

छान्दोग्य का मत है कि 'आहार शुद्ध हो तो अन्तःकरण स्वतः शुद्ध हो जाता है। अन्तःकरण शुद्ध होने से भावना दृढ़ हो जाती है और भावना के दृढ़ होने पर हृदय की सब गाठें खुल जाती हैं।'

इसी उपनिषद् ने अन्न को ब्रह्म की संज्ञा दी है। वह समस्त शक्तियों से भी अधिक है। यथा—'अन्न ही बल से बढ़कर है। क्योंकि यदि दस दिन भी भोजन न मिले तो प्राणी की समस्त शक्तियाँ क्षीण

हो जाती है और वे पुन: तभी लौट पाती हैं जब वह मनुष्य पुन: भोजन करने लगे। तुम अन्न की उपासना करो, यह अन्न ही ब्रह्म है।'

वस्तुत: जिसके द्वारा शरीर यात्रा का ठीक प्रकार से निर्वाह हो सके वह पदार्थं ही भौतिक पक्ष में उपयोगी हैं। किन्तु उसका उपभोग आध्यात्मिक पक्ष में भी कम नहीं है। क्योंकि उसीके प्रभाव से शरीर में बल रहता है और उपासना में बल रहता है और उपासना में चित्त लग सकता है। अन्न से शरीर को आरोग्यता प्राप्त होतो है तभी ब्रह्म की प्राप्ति हो सकती हैं। इसलिए आचार्यों ने इसे मन और ब्रह्म दोनों की सज्ञा दी है।

आहार का मन पर अद्भुत प्रभाव होता है। उसमें अभक्ष्य पदार्थों का त्याग कर देना ही उचित हैं। यदि आहार शुद्ध होता है तो मन भी अशुद्ध नहीं हो सकता। इसलिए विद्वानों ने अशुद्ध अन्न की निन्दा की है। किन्तु शुद्ध अन्न की निन्दा न करने का भी निर्देश दिया है। मन को शुद्ध रखने वाले अन्न का सेवन ही व्रत बतलाया है।

एकादशी प्रभृति पुण्य तिथियों में व्रत उपवास बहुत से धर्मज्ञ करते हैं। ऐसे व्रतों में प्राय: फलाहार का निर्देश है। फलाहार का अर्थ यद्यपि स्पष्ट है, तो भी लोग फलाहार के नाम पर कूटू, सिंघाड़े आदि के आटे से विभिन्न प्रकार के सुस्वाद व्यंजन (पकवान, मिठाई आदि) बनाकर खाते हैं। ऐसे व्रतों में खोये की मिठाई का प्रयोग भी अधिकता से किया जाता है।

यहाँ इन पदार्थों के गुण-दोष पर चर्चा तो अभीप्ट नहीं है, किन्तु यह कहना अनुचित न होगा कि उक्त पदार्थ फलाहार से भिन्न ही हैं। मनुष्य आये दिन पूड़ी, पकवान, मिठाए आदि का उपयोग करते रहते हैं, जिनके कारण पेट खराब हो जाता है। पेट की खराबी ही सब

रोगों में मुख्य कारण होती है। जब शरीर में कोई रोग होता है, तब मन भी अस्वस्थ हो जाता है।

अभिप्राय यह है कि हम रात-दिन अशुद्ध अन्न का सेवन करते हैं, उसमें सुधार लाने के लिए कई दिनों में एक दिन फलाहार रूप शुद्ध अन्न का विधान किया जाता है तो भी हम फलाहार के नाम पर अशुद्ध अन्न का ही सेवन करते हैं। आप स्वयं सोचिये कि व्रतोपवासों में जो कुछ खाया जाता है, वह क्या दैनिक भोजन से भी गरिष्ठ नहीं है? क्या उस प्रकार के आहार से उपवास के उद्देश्य की पूर्ति हो सकती है। यदि हो सकती हो तब तो ठीक, अन्यथा क्या लाभ है उस प्रकार के उपवास का आडम्बर करने से ?

कोई भी पूजा-विधि या उपासना-पद्धति आडम्बर करने की छूट नहीं देती। आप कह सकते हैं कि 'बिना कुछ खाये पिये तो हम रह नहीं सकते और केवल फल खाने मात्र से काम नहीं चलता तो फिर कूटू आदि के पकवान या मिठाइयाँ, जिन्हें व्रत में निषिद्ध नहीं माना जाता, क्यों न सेवन करें ?'

ठीक है, विकल्प रूप में इन पदार्थों का निषेध तो नहीं है। किन्तु क्या आपने कभी सोचा है कि ऐसे पदार्थ व्रतों में ग्रहण करने योग्य क्यों स्वीकार किये गये होंगे ? अनेक व्यक्ति नियमित रूप से व्रत करते हैं, हो सकता है कि कभी किसी विशिष्ट व्यक्ति को अनुकूल फलाहार न मिला हो और उसके प्रियजनों या भक्तों ने उस प्रकार के अन्न को ही फलाहार के रूप में उपस्थित कर दिया हो।

विकल्प का प्रयोग अभाव में या किसी विशेष परिस्थिति में ही किया जाना चाहिए, उसे सदैव के लिए अभ्यास की वस्तु नहीं मान लेनी चाहिए। व्रत का उद्देश्य शरीर शोधन, नाड़ी शोधन के साथ

मन का शोधन भी है। उसमें खाया जाने वाला आहार तन, मन पर प्रतिकूल प्रभाव डालने वाला नहीं होना चाहिए।

अभिप्राय स्पष्ट है—आहार पोषण की वस्तु है। उससे शरीर का ही नहीं मन का भी पोषण होता है। यदि मन पोषित होता है तभी आत्मा भी आनन्दित रहती है। जिस प्रकार आत्मा को आनन्द की प्राप्ति हो, वही कार्य इस लोक में और परलोक में, दोनों ही स्थानों पर श्रेयस्कर हो सकता है।

शरीर में देवताओं का निवास है। कुण्डलिनी महाशक्ति और षट्-चक्र के विषय में तो बहुत व्यक्ति जानते हैं, अन्य चक्र या ग्रन्थियाँ भी शरीर में विद्यमान रहती हैं। उन सभी के अपने-अपने अधि-देवता हैं। उनका पोषण भी मनुष्य द्वारा खाये हुए अन्न से ही होता है। वाल्मीकि रामायण ने इस पर प्रकाश डालते हुए कहा है—

यदन्न पुरुषो भवति तदन्नास्तस्य देवताः।

अर्थात्—मनुष्य जैसा अन्न खाता है, उसके देवता भी वैसा ही अन्न खाते हैं।

इसीलिए हमारे आचार्यों, वेदज्ञों, उपनिषत्कारों आदि ने आहार शुद्धि पर बहुत बल दिया है। उपनिषद् का वचन है—'आहार शुद्धौ सत्व शुद्धिः सत्व शुद्धौ ध्रुवा स्मृति' अर्थात् 'जब आहार शुद्ध होता है तभी सत्व (अन्तःकरण) शुद्ध होता है। अन्तःकरण के शुद्ध होने पर ही विवेक बुद्धि ठीक प्रकार से कार्य कर पाती है।

हमारे आचार्यों ने जहाँ अशुद्ध अन्न का निषेध किया है, वहाँ शुद्ध अन्न की वृद्धि का भी निर्देश दिया है। तैत्तिरीय के अनुसार—अन्न न परिचक्षीत, तदव्रतं, अन्न बहु कुर्वीत तदव्रतं अर्थात् अन्न की अवहेलना न करे यह व्रत है तथा अन्न को अधिक बढ़ावे यह व्रत है।

वैदिक संस्कृति से ही अन्न-शुद्धि का व्यवहार चला आरहा है। यह मान्यता है कि उन दिनों मनुष्यों के आचार-विचार सर्वाधिक सात्विक थे और उस समय जैसा आचरण किया था, वह भविष्य के लिए भी उदाहरण बन गया। वर्तमान काल में भी बहुत-से नियम परम्परागत चले आ रहे हैं और उनकी अवहेलना का कोई साहस नही करता।

अथर्ववेद में भी दोषपूर्ण अन्न कों त्याज्य माना गया है। उस समय शुद्ध और अशुद्ध अन्न के परीक्षण की भी एक सुन्दर कसौटी थी। समाज में निमंत्रण स्वीकार करने से पूर्व यह देखा जाता था कि जिस व्यक्ति के यहाँ से निमंत्रण आया है, उसका अन्न किस प्रकार से उपार्जित है? उसके बनाने में किसी प्रकार की अपवित्रता तो नहीं है? साथ ही यह भी देखा जाता था कि निमंत्रण देने वाला व्यक्ति सदाचारी है अथवा दुराचारी? क्योंकि सदाचारी मनुष्यों का अन्न ही खाने योग्य समझा जाता था, दुराचारियों या पापियों का नहीं।

किसी का नियन्त्रण स्वीकार करने में उसके पुण्यात्मा होने, न होने की कसौटी यह भी थी कि श्रेष्ठ पुरुष उसका अन्न स्वीकार करते हैं या नहीं? यथा—'सर्वो वा एष जग्ध पाप्मा यस्यान्नमश्नन्ति' अर्थात् 'पुण्यात्मा वही है, जिसका अन्न दूसरे (शुभकर्मी) खाते हैं।'

वर्तमान समय में भी कुछ स्थानों पर इस कसौटी का व्यवहार किया जाता है। प्रायः उन ग्रामों में जहाँ कट्टरता अधिक है, जिस व्यक्ति का आचरण दूषित समझा जाता है, उसके यहाँ अच्छे व्यक्ति भोजन नहीं करते। पुराने समय में जिस व्यक्ति को जाति से निकाल दिया जाता था, उसके यहाँ रोटी-बेटी का व्यवहार निषिद्ध माना जाता था।

इसका अभिप्राय बहुत ही स्पष्ट है कि अशुद्ध अन्न सेवन से मन और आत्मा दोनों पर ही प्रभाव पड़ता है। अशुद्ध अन्न वह है जो अन्याय के हथकण्ठों (छल-बल आदि) के द्वारा उपार्जन किया गया हो, हिंसा द्वारा

हथियाया गया हो, जिस पर अपना अधिकार न हो और उसे प्रयोग में ले आया जाय, गर्हित कर्मों द्वारा प्राप्त किया गया हो। अनेक विद्वान् स्त्री-धन, धरोहर के धन तथा मित्र, शरणागत, आश्रित और ब्राह्मण आदि के धन को भी व्यवहार योग्य नहीं मानते।



मन के सम्बन्ध में विभिन्न अन्वेषण

परन्तु जिस मन को शुद्ध रखने की बात कही जाती है, वह मन है क्या वस्तु ? यह प्रश्न सभी के लिए अवश्य ही जिज्ञासा का विषय हो सकता है। सामान्यत: समझा जाता है कि मन उस पदार्थ का नाम है, जिसके द्वारा इन्द्रियों के समस्त व्यवहारों का संचालन होता हो। क्योंकि इन्द्रियाँ मन के वश में ही रहती हैं। मन उन्हें जिधर चाहे उधर ले जा सकता है।

मन के विषय में प्राचीन विद्वान् तो अनुसन्धान करते ही रहे थे और उन्होंने निष्कर्ष रूप में उसकी प्रबलता को भी स्वीकार किया था। इसीलिए वे मन को आत्मा और ब्रह्म का भी सहायक मानते रहे हैं। उनके मत में मन के द्वारा ही आत्मज्ञान और परमात्मा की प्राप्ति हो सकती है।

मन का अन्वेषण वर्तमान काल में चल रहा है। देश-विदेशों के अनेकानेक विद्वान् इसकी जानकारी के विषय में लगे रहे हैं। ईसा से लगभग पाँच सौ वर्ष पूर्व ग्रीक दार्शिकों ने मन के विषय मेंजो खोज की

उसका नाम मानसिक दर्शन (मेंटल फिलॉसफी) रखा गया था। उसके अध्ययन द्वारा उन्होंने आत्मा के व्यवहार और अनुभव को समझने का प्रयत्न किया था। पाश्चात्य देशों में मन के विषय में अन्वेषण का कार्य यहीं से आरम्भ हुआ था।

परन्तु ग्रीक दार्शनिक उसके स्वरूप निर्धारण में एक मत नहीं हो सके। कुछ लोग इसे जल रूप, कुछ लोग गतिरूप और कुछ लोग ज्योति रूप समझते थे। अरस्तू का कहना था कि मन एक शरीरिक क्रिया है, जब कि प्लेटों के मत में मन और विचार एक ही वस्तु के दो नाम थे।

सोलहवीं शती में फ्रेंच दार्शनिक देकार्ते ने मन को देह से भिन्न तथा बुद्धि की एक क्रिया के रूप में स्वीकार किया। सत्रहवीं शताब्दी में मन के अध्ययन वाले सिद्धान्त को साहचर्यवाद की संज्ञा दी गई जिसके अनुसार एक के बाद एक—दो उत्तेजनाओं के मस्तिष्क में पहुँचने पर उनके स्पन्दनों (वाइब्रेशनों) के परस्पर अभिन्न रूप से जुड़ जाने की मान्यता स्थिर हुई।

वोल्फ ने स्थिर किया कि हमारे मन या आत्मा में इच्छा, स्मरण, तर्क नादि अनेक क्रियाओं की भिन्न-भिन्न शक्तियाँ विद्यमान र ती हैं। किन्तु इससे आगे भी अनेक विद्वानों ने इस दिशा में अन्वेषण कार्य जारी रखा।

वर्तमान में मन-सम्बन्धी अध्ययनों के बाद निकाले गये निष्कर्षों को मनोविज्ञान का नाम दिया गया। किन्तु इसमें भी विशेषज्ञों में मतैक्य न हीं है। एक सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य की चेतना के मानसिक तत्वों का महत्व स्वीकार करते हुए उसमें संवेदना, प्रत्यक्ष ज्ञान, कल्पना आदि की चर्चा कीं गई है।

उसके पश्चात् प्रकार्यवाद से एक सिद्धान्त स्वीकार किया गया। इसके मानने वालों ने सम्पूर्ण व्यक्तित्व के अध्ययन पर ध्यान दिया।

इसके बाद व्यवहारवाद का श्रीगणेश हुआ। इसके प्रवर्तक वाटसन ने समस्त अमूर्त, अज्ञेत और अज्ञात तत्वों को अमान्य कर दिया। तदुपरान्त अन्य विशेषज्ञ भी उसके अनुसंधान कार्य में लगे रहे।

मनोविश्लेषण कार्य में सिगण्ड फ्रायड का योगदान अधिक महत्वपूर्ण रहा है। उन्होंने मानव जीवन के प्रायः समस्त पहलुओं पर विशेष रूप से प्रकाश डाला तथा धर्म, संस्कृति और योग से लेकर दैनिक जीवन में होने वाली भूलों, स्वप्नों, लोकोक्तियों आदि समस्त छोटी-बड़ी बातों पर विश्लेषणात्मक व्याख्या उपस्थित की।

बहुत से विद्वानों ने वैदिक और पौराणिक कथाओं, अन्धविश्वासों, प्रचलित मान्यताओं आदि के अध्ययन द्वारा मन के सम्बन्ध में जानने का प्रयत्न किया। साहित्य, संगीत, कला, धर्म यादि में जो-जो भावनाएँ निहित हैं वे भी मन के विश्लेषण में बहुत कुछ सहायक हो रही हैं। पुराने स्त्री-पुरुषों द्वारा कहीं गई कथाओं और प्राचीन इतिहास की घटनाओं से भी मनुष्य की भावनाओं पर प्रकाश पड़ता है। वेबर फेख़नर नियम से यह भी व्यक्त होता है कि प्रकाशादि उद्दीपनों के एक निश्चित सीमा तक प्रबल होते जाने के कारण दृष्टि आदि संवेदनाएँ भी प्रबल होती जाती हैं और मन का अध्ययन करने के लिये दो प्रकार के उद्दीपनों को पृथक्-पृथक् पहचानना अपेक्षित है।

आध्यात्मिक उत्थान में मनुष्य के चरित्र में सुधार अनिवार्य आवश्यकता होती है। चरित्र (कैरेक्टर) और आचरण (कंडक्ट) में बहुत निकट का सम्बन्ध है। कुछ लोग मानते हैं कि जिसके द्वारा इनमें सुधार होसके, वह मन ही है।



मन के दो मुख्य रूप चेतन और अचेतन

विशेषज्ञों ने मन को अनेक शक्तियों का संग्रह मानते हुए उन शक्तियों के पृथक्-पृथक् कार्यक्षेत्र होने की बात कही है। परन्तु बाद के अन्वेषणों से यह धारणा बनी है कि मन समग्र रूप से ही कार्य करता है। शारीर विज्ञानियों के निष्कर्षानुसार यदि मस्तिष्क के किसी एक भाग में किसी प्रकार का आघात लग जाय तो उस भाग के कार्य को अन्य भाग सँभाल लेते और उसे करने में जुट जाते हैं।

मन परिवर्तनशील भी है। विभिन्न मानसिक शक्तियों और क्रियाओं में परिवेश के प्रति अनुक्रिया होते रहने से मन का निरन्तर विकास होता रहता है। फ्रायड ने मानसिक व्यवहार में इड (इ), ईगो (अह) और सुपर इगो की चर्चा की है। उनमें से इगो और सुपर ईगो दोनों का विकास परिवेश में होता है।

पुराने समय में मन का एक ही रूप माना जाता था—चेतन। जो क्रियाएँ आज अचेतन के कारण हुई मानी जाती हैं, उन्हें पहिले लोग दैवी कारणों या मानवेतर शक्तियों के कारण हुई मानते थे। वर्तमान में वैज्ञानिकों ने मनुष्य की मानसिक क्रियाओं में होने वाले प्रेरणों को अचेतन मन का कार्य ही माना है।

मन के चेतन और अचेतन रूप में कोई कठोर अलगाव नहीं है, वरन् इन दोनों में निरन्तर कुछ पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रियाएँ होती रहती हैं। फ्रायड का मत है कि अहं (ईगो) चेतन और अचेतन दोनों में ही समान रूप से मध्यस्थता करता रहता है।

सभी जानते हैं कि स्वप्न या सुषुप्ति अवस्था की मानसिक दशा में और जाग्रतावस्था की मानसिक दशा में एकदम भिन्नता होती है। अकेली जाग्रतवस्था में ही जीवन की दशा में सदैव समानता नहीं रहती। उसे कुछ बातों का ध्यान रहता है, कुछ का नहीं रहता। कुछ बातें याद रहती है तो कुछ भूल जाती हैं।

मानसिक जीवन के इस प्रकार विभिन्न रूप होते हैं, जिन्हें लक्षणानुसार तीन स्तरों में विभाजित किया जाता है, यथा—(१) चेतना केन्द्र (फोकस आफ कंशसनेस), (२) चेतना का सीमा प्रदेश (मार्जन आफ कंशसनेस) तथा, (३) अवचेतन (सबकंशस)

चेतना-केन्द्र में प्रत्येक वस्तु को स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। अनेक वस्तुओं के होते हुए भी लक्ष्य वस्तु ही दिखाई दे सकती है। इसलिये इस केन्द्र को ध्यान का केन्द्र भी मान सकते हैं। इसमें केन्द्रीय चेतना (फोकल कंशसनेस) की स्पष्टता रहती तथा मानसिक क्रिया में में तीव्रता होती है। मान लो कि तारे भरी रात्रि में चन्द्रमा को ही देखना चाहें तो चन्द्रमा को तारागण से पृथक् तथा स्पष्ट रूप में देख सकते हैं।

चेतना—केन्द्र के चारों ओर चेतना की सीमा प्रदेश माना जाता है। इसमें ध्यान को केन्द्रित नहीं किया जा सकता। इसीलिये इसे अनवधान का क्षेत्र (फील्ड आफ इन-एटेंशन) भी कहते हैं। इसकी चेतना सीमान्त चेतना (मार्जिनल कंशसनेस) कही जाती है। इसमें वस्तुएं स्पष्ट रूप से नहीं देखी जा सकतीं, धुधली और अस्पष्ट दिखाई देती हैं। उदाहरणार्थ इस अवस्था में जब हम चन्द्रमा को देखें तब तारागण भी अस्पष्ट रूप में दिखाई देते रहते हैं। पाश्चात्य विशेषज्ञ स्टाउट ने इसी अवस्था को अवचेतन (सब कंशस) कहा है।

वस्तुतः चेतना केन्द्र और चेतना की सीमा का प्रदेश, दोनों चेतना-द्वार के अन्तर्गत समझे जाते हैं। चेतना द्वार के नीचे ही यह (अवचेतन नामक) स्तर है। किन्तु फ्रायड ने इसे अचेतन ही कहा है। यही स्तर अतीत के अनुभवों और संस्कारों को अपने में एकत्र किये रहता है। इसमें चेतना की प्रत्यक्षता नहीं होती।

अनुभव बताता है कि हम अनेक बातों को भूल जाते हैं, किन्तु वे भूली हुई बातें कुछ दिनों बाद पुनः याद आने लगती हैं। कुछ वस्तुएं पहिले ही देखी हुई प्रतीत होती हैं, किन्तु ध्यान नहीं आता कि कब देखी हैं? कभी किसी व्यक्ति को देख कर हम उसे देखा हुआ अनुभव करते हैं, किन्तु कब देखा, यह बहुत विचार करने पर भी याद नहीं आता। कभी-कभी भूले हुए व्यक्ति भी बहुत दीर्घकाल में याद आजाते हैं। कभी हम पक्का निश्चय करके सोयें कि हमें रात के अमुक समय अवश्य उठना है, तो उसी ठीक समय पर हम जाग उठते हैं।

और यह अनुभव इस तथ्य का उद्घाटन करते हैं कि हमारी समस्त मानसिक क्रियाओं का एक मात्र क्षेत्र चेतन मन ही नहीं है उसके अतिरिक्त भी कोई अन्य मस्तिष्क है जो क्रियाशील रहता है। विद्वानों ने इसे अचेतन मस्तिष्क माना है।

चेतना के दो स्तरों का विश्लेषण

इससे यह बात सहज में आ जाती है कि चेतना के दो स्तर हैं—(१) चेतन, और (२) अचेतन। चेतन स्तर में कोई भी वस्तु विशेष हमारे ध्यान के क्षेत्र में स्पष्ट रूप से रहेगी, इसलिए हमें उसका प्रत्यक्ष ज्ञान रहेगा। इसके विपरीत, अचेतन स्तर की स्थिति चेतना द्वार के नीचे होने के कारण हमारे ध्यान क्षेत्र में न आने के कारण वस्तु की अस्पष्टता रहेगी। क्योंकि उसकी विषय वस्तु का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं हो पाता।

परन्तु अचेतन स्तर अधिक सबल, जटिल और गतिशील है। मनुष्य की मूल प्रवृत्ति का निवास इसी में रहता है। फ्रायड के अनुसार चेतन में इच्छाओं की अभिव्यक्ति रहती है, जब कि अचेतन स्तर में इच्छाएँ दबी रहती हैं। इस प्रकार मानव जीवन में चेतन की अपेक्षा अचेतन अधिक महत्वपूर्ण है।

चेतन-अचेतन के इस भेद से हमारे भारतीय विद्वान और कवि भी अनभिज्ञ नहीं रहे हैं। वे भी समय-समय पर इसके विषय में अपेक्षित चर्चा करते रहे हैं। सूरदासजी ने मन को एक ही माना है—

ऊधौ मन न भये दस बीस।
एक हुतौ सो गयौ स्याम सँग को अवराधै ईस॥
इन्द्री सिथिल भईं केशव बिनु, ज्यों देही बिनु सीस।
आसा लागि रहति तन स्वासा, जीवहिं कोटि बरीस॥

-एक मन था, वह श्याम के साथ चला गया, अब भगवान् की आराधना कौन करे? श्याम के बिना शीश रहित शरीर के समान ही

इन्द्रियाँ शिथिल हो गई हैं, किन्तु चाहें करोड़ वर्षों तक जीवित रहें तो भी जब तक श्वास तब तक आशा रहती है ।'

इसमें आशा वाला मन दूसरा है, जिसे हम चेतन कह सकते हैं। जिस मन का श्याम के साथ जाना कहा है, वह अचेतन मन है। इस प्रकार सूरदास ने मन के दो भेद कहे हैं।

किन्तु कविवर दाऊदयाल गुप्त ने मन के चेतन-अचेतन दोनों रूपों रूपों का स्पष्ट रूप से उल्लेख किया है, यथा—

दो टूक हुए हैं मन के ।
एक टूक का नाम अचेतन चेतन मन है दूजा ।
किन्तु प्रथम प्रिय संग सिधारा अपर करे है पूजा ॥
दोनों ही निज रंग रँगे हैं घूम रहे बन ठन के ॥दो टूक
प्रथम पीय सामीप्य कराता बैठा स्वप्न सँजोये ।
पर दूजा दर्शन-आशा में मुक्ता नयन पिरोये ॥
प्रतिकूल हुए हे विधना ! यह दो ही जीवन के ॥दो टूक
एक निराशा की नौका को बिना डाँड ही खेता ।
पर रचता षड्यन्त्र भयंकर दूजा धीरज देता ॥
हा कैसे लाभ उठाते यह मेरे भोलेपन के ॥दो टूक
एक दिखाता दृश्य अनोखे दूजा दौड़ लगाये ।
दोनों ही बनते हैं अपने, पर होगये पराये ॥
वे साथ नहीं हैं रहते 'दाऊदयाल' इस तन के ॥दो टूक

चेतन और अचेतन दोनों ही अपने-अपने क्षेत्र में क्रियाशील रहते हैं। चेतन जाग्रत है, इसलिए वह ध्येय की स्मृति उभरते ही व्याकुल हो जाता है। जब कि अचेतन स्वप्न में उसे साकार ही कर देता है। चेतन सुदूर की लम्बी छलाँग लगाता है किन्तु निरर्थक। कोई लाभ नहीं होता उसकी इस दौड़ से। अचेतन स्वप्न की अवस्था में अनेकों

दृश्य दिखाता है किन्तु वे दृश्य भी आँख खुलते ही दूर हो जाते हैं, इसलिए उनका भी जीवन में कुछ उपयोग नहीं है। मन यद्यपि अपने ही शरीर से सम्बन्धित है, किन्तु वह जब विषयों की ओर भागता है तब आत्मा का साथ नहीं देता। इसलिए उसके दोनों रूप आत्मा से भिन्न और विपरीत होने के कारण पराये के ही समान हैं।

इसीलिए, ज्ञानीजन मन को वश में करने पर जोर देते हैं। यदि मन वश में हो जाय तो फिर कुछ भी ऐसा न रहे जो वश में न हो सके। यदि मन वश में नहीं होता वासनायें बढ़ती जाती हैं और वे यदि तृप्त नहीं होती तो ऊच्छृंखलता को उत्पन्न करती हैं। उस उच्छृंखलता में निराशा भी साथ रहती है।

निराशा जब मनोभूमि को कुरदने लगती है तब वहाँ कुछ ऐसा होने लगता है, जिससे वासनाओं के चित्र संग्रहीत हो जायँ और वे स्मृति पटल पर अङ्कित रहे आवें। वे अङ्कित चित्र ही संस्कार रूप में परिवर्तित हो जाते हैं और तब अचेतन मन उन संस्कारो का पिटारा बन जाता है।

फ्रायड का मत है कि जैसे समुद्र में तैरते हुए वर्फ के पर्वक का केवल दसवाँ भाग ही पानी से ऊपर रहता है, शेष नौ भाग पानी में ही छिपा रहता है, वैसे ही मन का चेतन स्तर भी बहुत छोटा-सा अंश है। मन का अधिक भाग तो अचेतन स्तर ही है।

परन्तु अचेतन में जो हमारे अनुभव विद्यमान हैं, दुःखमय होने के कारण, उनका दमन कर दिया जाता है। उसमें मूल-प्रवृति जन्य वासनाएँ भी हैं, उन्हें अचेतन स्तर पर आने का अवसर नहीं मिलता। यह प्रवृत्तियाँ यौन-सम्बन्धी भी हो सकती हैं और अहं-सम्बन्धी भी।

युग के मत में अचेतन इतना विस्तृत होता है कि उसका पूर्ण रूप से जानना सम्भव नहीं होता। अचेतन के एक बड़े भाग के साथ मनुष्य

उत्पन्न होता है और जो जीवनकाल में चलता है, वह उसका एक छोटा भाग ही है। युंग का कथन है कि अचेतन जन्मजात ही होता है।

वस्तुतः स्वप्नों का संचालन अचेतन मन के द्वारा ही होता है। दिन में दिखाई देने वाले स्वप्नों में भी अचेतन मन का ही बहुत बड़ा हाथ है। जीवन के अनेकों व्यवहारों के आदि श्रोत अचेतन में ही होते हैं। मनुष्य की कल्पनाओं में अचेतन का बहुत महत्वपूर्ण हाथ होता है।

मानव की जिन मूल प्रवृत्तियों से उत्पन्न इच्छाओं की तुष्टि नहीं हो पाती, वे सब मन के अचेतन स्तर पर ही रहती हैं। अचेतन के व्यवहार द्वारा अनेकों असामान्य व्याधियाँ भी दूर की जा सकती हैं। जो बहुत-सी जानी हुई बातें चेतन-स्तर पर दिखाई नहीं देतीं तथा जिन्हें मनुष्य भूली हुई समझता है, वे सब अचेतन स्तर में ही विद्यमान रहती हैं।

कला, साहित्य, संगीत एवं विज्ञान आदि में जो विशेषता अथवा अधिक सूझ-बूझ दिखाई देती है, वह सब भी अचेतन मन की ही शक्ति है। चित्रकला आदि में भी अचेतन मन से ही प्रेरणा मिलती है। दमन की हुई प्रवृत्तियों में तृप्ति का कारण भी यही है।

इस प्रकार अचेतन मन, चेतन की अपेक्षा अधिक महत्व पूर्ण है। लौकिक कार्यों में ही नहीं, अलौकिक कार्यों में भी अचेतन मन ही अधिक क्रियाशील होता है। आध्यात्मिक पक्ष में भी इसी का अधिक प्रभाव रहता है।

भूलें और अचेतन मन

इसीलिये मानव-जीवन और व्यवहार में अचेतन प्रेरणाओं को अत्यधिक महत्वपूर्ण माना गया है। मानव मन का बहुत बड़ा भाग

अचेतन है, जिसकी क्रियायें प्रकट रूप में नहीं, वरन् अप्रकट रूप में ही चेतन भाग की अनेक क्रियाओं का संचालन करती हैं।

दैनिक व्यवहार की अनेक भूलों का कारण भी अचेतन मन ही है। जैसे कोई व्यक्ति अनेक व्यवहारों को विचार करता रहे, किन्तु वाणी द्वारा उसे प्रकट न कर पावे तो यह चेतन मन की क्रिया नहीं, अचेतन की ही क्रिया मानी जा सकती है।

जीवन में किये जाने वाले कार्य में यदि सफलता न मिले और निराशा का भाव उत्पन्न हो जाय तो उसे दूर करने में अचेतन मन की सहायता ली जा सकती है। मनुष्यों को अनेक प्रकार के संघर्षों में और समस्याओं से जूझना होता है। यदि कोई चाहे कि सभी समस्याओं का समाधान हो जाय तो यह सम्भव नहीं। क्योंकि किसी की सभी इच्छाएँ कभी पूरी नहीं होतीं। विद्वानों का मत है कि समस्याओं का समाधान और इच्छाओं की पूर्ति की निर्भरता बहुत कुछ उसके संचित कर्म ही विघ्न रूप बन जाते हैं।

किन्तु जो कामनाएँ स्वभावतः, सरलता से ही पूरी हो जाती है, उनमें किसी प्रकार बाधा उत्पन्न नहीं होती; उसका कारण भी कर्म ही है। शुभ कर्म के द्वारा मनुष्यों की अभिलाषा पूर्ति में कोई विघ्न उपस्थित नहीं होता, किन्तु जिन कार्यों में विघ्न उपस्थित हो तो समझ लेना चाहिए कि वह अशुभ कर्म के कारण ही हुआ है।

इच्छा पूर्ति के उद्देश्य से किये गए कार्यों में विफलता होने पर निराशा उत्पन्न हो जाती है। उससे तनाव बढ़ जाता है और असंतोष की स्थिति बन जाती है। किन्तु स्वस्थ मन वाले मनुष्य उन विफलताओं से घबराते नहीं, निराश नहीं होते और वे अपने प्रयत्नों को और आगे बढ़ाते हैं। कुछ लोग विफलता के कारण पर विचार करते और कार्य-विधि में परिवर्तन लाने का प्रयास करते हैं। जिन्हें लक्ष्य में भूल प्रतीत होती है वे लक्ष्य को ही बदल डालते हैं।

किन्तु कभी-कभी विफलता के कारण हीन भावना आ जाती है। कुछ की मान्यता इससे कुछ भिन्न है, वे मानते हैं कि बहुत बार विफलताओं में मुख्य कारण हीन भावना ही होती है।

चेतन, अचेतन और विपर्यय

अनेक बार सामाजिक मान्यताएँ और कार्य विधियाँ भी विफलता का कारण बन जाती हैं। राजनियम भी बहुत बार सफलता में बाधक हो जाते हैं। बहुत बार जिस परिवेश में रहते हैं, उस पर नियन्त्रण की कमी भी विफलता का मुख दिखा देती है। किन्तु दृढ़ निश्चयी मनुष्य जटिल से जटिल कारण उपस्थित होने पर भी घबराते नहीं। उसका कारण उनके अचेतन मन में प्रेरणा की दृढ़ता ही विशेष रूप से समझना चाहिए।

विपर्यय दृष्टि में चेतन और अचेतन दोनों ही प्रकार के मन का भ्रम रहता है। विपर्यय का अर्थ है यथार्थ से भिन्न देखना, जैसे कि कोई रस्सी को सर्प अथवा सर्प को रस्सी समझ ले। किसी बात को दूसरे रूप में सुनना तथा संवेदनों सही रूप न समझ पाना आदि विपर्यय ही है।

परन्तु विपर्यय किसी प्रकार के स्वप्न को नहीं कहते, क्योंकि विपर्यय की प्राप्ति जाग्रतवस्था में होती है। उसे कल्पना भी नहीं कह सकते, क्योंकि वह तो प्रत्यक्ष है, सामने है, मस्तिष्क की उपज नहीं है। कल्पना की उत्पत्ति मस्तिष्क से होती है।

विपर्यय में भ्रम है, प्रत्यक्ष वस्तु में भ्रम। किन्तु वैसा भ्रम नहीं कि अँधेरे में भूत का ही आभास होने लगे। यदि असामान्य अवस्था में निरर्थक धारणा से कुछ दिखाई देने लगे तो उसे भ्रम या विभ्रम कह सकते हैं। इस प्रकार के भ्रम उन्हीं को अधिक होते हैं जो अन्धविश्वासी हों या मानसिक रोगी। सामान्य दशा वालों को भूत आदि के दर्शन वाली भ्रान्ति नहीं होती।

स्वप्न प्रायः रात्रि में दिखाई देते है। मनुष्य के मन में जब विचार तरंगें इतनी तीव्र होती हैं कि ज्ञान तन्तु मूर्च्छना में नहीं आते तभी स्वप्न की अवस्था उत्पन्न होती है। जैसे रात्रि में दिखाई देने वाले स्वप्न अचेतन के द्वारा होते हैं, वैसे ही जो स्वप्न दिन में दिखाई देते हैं, उनका कारण भी अचेतन मन ही है।

परन्तु रात्रि-स्वप्न और दिवा-स्वप्न में अन्तर बहुत है। रात्रि-स्वप्न सोते में देखे जाते हैं, जब कि दिवा स्वप्न जागी हुई अवस्था में दिखाई देते हैं। दिन में देखे जाने वाले इन स्वप्नों में कल्पना का अंश अधिक होता है, इसलिए यह रात्रि स्वप्नों की अपेक्षा अधिक चेतन होते हैं।

एक मान्यता यह भी है कि रात्रि-स्वप्नों का सम्बन्ध प्रायः भूत, भविष्य और वर्तमान, तीनों काल से सम्बन्धित रहते हैं: जब कि दिवा स्वप्नों का सम्बन्ध प्रायः भविष्य से रहता है।

दिवा-स्वप्न का अभिप्राय उन स्वप्नों से नहीं है, जो रात्रि में कार्य करने वाला व्यक्ति दिन में सोता हुआ स्वप्न देखे। जो स्वप्न जाग्रत अवस्था में देखे जाते हैं, उनमें कल्पना ही प्रमुख आधार होता है, वे ही दिवा स्वप्न के नाम से जानने चाहिए।

वुडवर्थ नामक एक विद्वान् ने दिवा स्वप्न की परिभाषा में कहा है कि 'एक दिवा स्वप्न भविष्य को लक्ष्य करता है, मानो किसी संभावित क्रिया की योजना बनाता हो। परन्तु वह कोई ऐसी गम्भीर या आव-

श्यक योजना नहीं हो सकती जो यथार्थ जीवन में काम की सिद्ध हो सके। बरन् वह तो कल्पना की ही एक क्रीड़ा है।'

एडलर ने माना है कि दिवा स्वप्न में मनुष्य अपनी निजी स्थापनेच्छाओं को सन्तुष्ट करता है। परन्तु इच्छाओं की इस प्रकार की संतुष्टि का कारण कष्ट उठाकर भी कठिनाइयों पर विजय प्राप्ति की आशा वाली कल्पना होती है। इस प्रकार के स्वप्नों में मनुष्य कुछ देर के लिए अपनी कठिनाइयों को उसी प्रकार भूल जाता है, जैसे कोई नशा करने वाला, नशा करके अपनी कठिनाईयों को विस्मृत कर देता है। इस प्रकार कुछ विद्वानों ने दिवा स्वप्नों को लाभदायक माना है। किन्तु बहुत बार यह हानिकारक भी बन जाते हैं। विशेषकर उस स्थिति में जब कि दिवा स्वप्न जीवन के यथार्थ से पलायन करने का एक आश्रय बन जाय।

परन्तु कुछ विद्वान् समझते हैं कि स्वस्थ मन की स्थिति में न तो रात्रि में ही अधिक स्वप्न दिखाई देते हैं, न दिन में ही। इसलिए आवश्यकता इस बात की है कि मन को स्वस्थ और सबल बनाने की दिशा में ही अधिक कदम उठाया जाय।

और यह सब संकल्प पर निर्भर है। कुछ विद्वान् संकल्प को ही मन कहते हैं, क्योंकि मन से ही संकल्प उत्पन्न होता है। अच्छा संकल्प आत्मोन्नति का ही साधन नहीं होता, विश्वकल्याण में भी सहायक होता है। यजुर्वेद में 'शिव संकल्पमस्तु' कहकर उस प्रकार के सङ्कल्प की बात कही है, जिसके द्वारा लोक-कल्याण हो सकता हो। जो संकल्प, निश्चय स्वार्थ के लिए नहीं, परार्थ के लिए किया गया हो।

मन ही समस्त संकल्पों का जनक है

वस्तुतः शिव-संकल्प वाले सूक्त पर ही मनोविज्ञान आधारित है। यह बात भिन्न है कि अन्वेषकों के अपने-अपने अनुभवों के आधार पर मनोविज्ञान की मान्यताओं में समय-समय पर परिवर्तन होता रहा हो।

मान्यताएँ अनुभव के आधार पर बदलती हैं। समय निरन्तर गतिशील है, उसमें कभी रुकावट नही आती, किन्तु समय के बदलने के साथ-साथ भ्रान्तियों में घटाव-बढ़ाव होता रहता है। मानव-मस्तिष्क का स्वभाव है कि वह निष्क्रिय नहीं बैठना चाहता, इसलिये उसमें विचार चलते रहते हैं। बहुत बार वे विचार भ्रान्तियों को उत्पन्न कर देते हैं तो बहुत बार वे ही विचार भ्रान्तियों को नष्ट कर डालते हैं।

मनुष्य जब, जो कुछ करता है, उसमें किसी उद्देश्य की प्रेरणा अवश्य होती है। वह उपस्थित परिस्थियों और परिवेश आदि से शिक्षा ग्रहण करने में रुचि रखता है, इसीलिए वह सुसम्बद्ध क्रियाओं की ओर अग्रसर होता है। वस्तुतः इन क्रियाओं का मूल स्रोत मन ही है।

इस प्रकार मन एक ऐसी शक्ति है जो मनुष्य के आचरण को उद्देश्यपूर्ण बनाती है। उसी शक्ति की प्रेरणा पर मनुष्य वे सभी कार्यों का संचालन होता हैं। जब कोई पदार्थ इन्द्रियों के सम्पर्क में आता है तब हम उस पदार्थ को जानते-समझते हैं। उस सबको जानने-समझने में कारण कौन-सा है? नेत्र को दृश्य दिखाने में सहायक कौन है? गन्ध सूंघने में माध्यम नासा है, किन्तु अनुभव कराने वाला तो कोई और ही है।

वह है मन। मन के बिना कोई कार्य सम्पन्न नहीं हो सकता। हमारे सामने दृश्य है, आँखें उसे देखने को तैयार हैं, किन्तु मन कहीं अन्यत्र है तो वह दृश्य दिखाई नहीं दे सकता। कहीं से सुमधुर सुगन्ध आरही है, किन्तु मन तो किसी दूसरी ओर फँसा है, ऐसी स्थिति में वेचारी नासिका क्या करेगी ?

इससे सिद्ध है कि विभिन्न प्रकार के अनुभवों का आधार एक मात्र मन ही है। उसमें अनेक शक्तियों की विद्यमानता हैं, किन्तु तीन शक्तियाँ प्रमुख मानी जाती हैं—(१) संचय शक्ति, (३) सोद्देश्य क्रिया शक्ति, और (३) समन्वय शक्ति।

संचय शक्ति का अभिप्राय उस शक्ति से हैं, जो अनुभव में आये हुए पदार्थों को स्मृति रूप में अपने में सँजो लेती है, उनका भण्डारण कर लेतीं है। पाश्चात्य विशेषज्ञों के मत में यह शक्ति अचेतन मन का कार्य है, इसलिए इसे अचेतकशक्ति भी कह सकते हैं।

सोद्देश्य क्रिया शक्ति का उद्देश्य है मस्तिष्क को उद्देश्यों के विचार में लगाना और उन्हें क्रियात्मक रूप देना। यदि यह शक्ति न हो तो किसी प्रकार की प्रेरणा नहीं मिल सकती और न उस विचार को क्रियान्वित ही किया जा सकेगा।

समन्वय शक्ति का कार्य अनुभवों को क्रमबद्ध करने और सम्बद्ध दशा में लाने के लिये विचार कराना और सभी अनुभवों का सनन्वय करके अपने अनुकूल अनुभवों को सँजोये रखना।

देखते हैं कि जो अनुभव अपने अनुकूल नहीं होते, मनुष्य उसे शीघ्र भूलता है और जो अनुभव अनुकूल होते, हैं उनकी याद बहुत समय तक बनी रहती है। वस्तुतः यह कार्य मन की समन्वय शक्ति द्वारा ही सम्पन्न होता है।

और भी बहुत-सी शक्तियाँ मन में विद्यमान हैं, किन्तु सामान्यतः इनका ज्ञान नहीं रहता। इसीलिये मनुष्य अनेकों भ्रमों में भ्रमित

रहता है। बहुत बार कुछ करने को मन नहीं होता यह भी मन का ही कार्य है।

मन के द्वारा कठिन से कठिन कार्य सम्पन्न हो सकते हैं। ऋग्वेद का कथन है—'स्थिरं मनश्चकृषे जात इन्द्रः, केषीदेकते यूधये भूयसश्चित्त' अर्थात् 'अरे इन्द्र की उपासना करने वाले साधक ! यदि तू अपने मन को स्थिर कर सके तो युद्ध में अकेला ही अनेक प्रकार के विघ्नों और कठिनाइयों से पार हो सकता है।

मन बहुत प्रबल है। यह इन्द्रियों और आत्मा से भिन्न है। इसका शरीरस्थ किसी भी वस्तु से कोई साम्य नहीं। बिल्कुल ही निराला है यह। इसके कार्य और गति भी अद्भुत है।

मन ही समस्त संकल्पों का जनक है। संकल्प दो प्रकार के हैं—शुभ और अशुभ। शुभ संकल्पों में वे समस्त कार्य आते हैं, जिनके द्वारा आत्मोत्थान हो सकता हो, स्वर्ग प्राप्ति या सुख-शान्ति की उपलब्धि हो सकती हो। जप, तप, योग, यज्ञ, उपासना, पूजन, व्रत, उपवास, दया, धर्म परोपकार आदि सभी शुभ संकल्प हैं।

अशुभ संकल्पों में हिंसा, असत्य, छल, कपट, चोरी, अनाचार, पाप-कर्म, क्रूरता, स्वार्थ सिद्धि आदि आत्मा की अवनति में सहायक सभी कार्य सम्मिलित हैं। इस प्रकार के संकल्प दुःख रूप होते हैं। चाहे उनका परिणाम तुरन्त या निकट भविष्य में न मिले, अन्त में दुःखदायी ही होते हैं।

शुभ संकल्प या सत्य संकल्प शारीरिक, मानसिक और इन्द्रिय-विषयक सुखों की भी प्राप्ति भी निर्भर है। संकल्प का अभिप्राय प्रबल इच्छा से है। किसी कार्य को करने की साधिकार प्रबल इच्छा संकल्प ही है।

यदि संकल्प का बार-बार आवर्तन किया जाय तो उसमें दृढ़ता आती है। इस दृढ़ता को आवेश कहते हैं। किसी भी कार्य को करने

में आवेश का उत्पन्न होना उस दिशा में प्रगति कराने वाला है। अथर्ववेद ने संकल्प को आन्तरिक जीवन का यथा कामना को बाह्य जीवन का मूर्त्त रूप माना है। यथा—

कामस्तदग्र समवर्तत मनसो रेतः प्रथमं यदासीत् ।
स काम कामेन वृहता सयोनी रायस्पोषं यजमानाय धेहि ।।

अर्थात् सृष्टि से पहिले परमात्मा के मन में संकल्प हुआ। हे काम (कामना) सृष्टि रचना के लिये तेरी उत्पत्ति पहले हुई है, इसलिये तू परमात्मा का सयोनि है। तू हविदाता यजमान को धन की पुष्टि में स्थापित कर।

वस्तुतः यह सुदृढ़ संकल्प का ही एक रूप है, जिसे हम आवेश कह सकते हैं। जैसे स्विच दबाने पर विद्युत्-प्रवाह तुरन्त समूची लाइन में दौड़ने लगता है, वैसे ही कामना रूप में संकल्प उत्पन्न होकर तुरन्त अपने कार्य में जुट जाता है। किन्तु किसी कार्य में जितने वोल्टेज या शक्ति की अपेक्षा हो, उतनी ही होने पर विद्युत् प्रवाह भी कार्य कर सकता है, अन्यथा उससे लाभ नहीं होता, वैसे ही संकल्प में जितनी अधिक दृढ़ता होगी, उतना ही कार्य बनने में सुविधा रहेगी।

यदि संकल्प शक्ति दुर्बल हो तो अपेक्षित गति प्राप्त नहीं हो सकती। उत्कर्ष चाहने वालों को अपनी संकल्प शक्ति सबल बनाने का प्रयत्न करना चाहिए। भौतिक और आध्यात्मिक सभी शक्तियाँ दृढ़ संकल्प शक्ति पर ही निर्भर हैं।

सुख-शान्ति में बाधक संकल्प शक्ति का अभाव

संसार से छुटकारा पाने और मन को शान्त बनाने में संकल्प बहुत बाधक हैं क्योंकि संकल्प ही संसार बन जाता है मनुष्य के लिये। संकल्प करता है तो क्रिया भी उत्पन्न हो सकती है उसकी। इच्छाशक्ति के बाद ही तो क्रियाशक्ति उत्पन्न होगी। परमात्मा ने संकल्प किया—'मैंएक से बहुत होजाऊँ' और तब उसने स्फुरण किया, अपनी क्रियाशक्ति को जगाथा। क्रियशक्ति जागती है तो चैन से नहीं बैठने देती उसे जो उसे जगाता है, जो उससे काम लेना चाहता है।

अब यह क्रियाशक्ति पर निर्भर है कि किधर चल पड़े या किस दिशा में मोड़ ले ले। वैसे तो उसे संकल्प के अनुसार ही चलना या मोड़ लेना चाहिये, किन्तु कभी-कभी भूलभी हो जाती है। किन्तु वह भूल बहुत बार बड़े भयंकर परिणाम प्रकट कर देती है।

आपने पढ़ा होगा समाचार पत्रों में रेल गाड़ियाँ टकरा गईं कैसे टकरा गई रेल गाड़ियाँ, जब कि वे पटरियों पर चलती हैं। उनके साथ प्रशिक्षित चालक भी रहते है। गाड़ियाँ स्टेशन पर आती हैं, तब उन्हें खाली लाइनों पर खड़ा किया जाता है। यही नहीं. इससे भी अधिक सावधानियाँ रखी जाती हैं। फिर भी कभी-कभी टकरा जाती हैं गाड़ियाँ, क्यों ? इस पर विचार किया आपने ?

किसी भी रेल-दुर्घटना की ओर विचार दृष्टि से देखें तो स्पष्ट हो जायगा कि सभी में कोई न कोई भूल अवश्य है। कभी स्टेशन- अधिकारियों की भूल कभी लाइन मैन की भूल, कभी ड्राइवर की भूल। भूल

तो भूल ही है, किसी के भी द्वारा हो। वह नहीं देखती कि किसी छोटे कर्मचारी से हुई है या बड़े अधिकारी से।

भूल अपना प्रभाव दिखाये बिना नहीं रहती। छोटी भूल होगी तो छोटी हानि होगी, बड़ी भूल हुई मो बड़ी हानि। रेलगाड़ियों के आवागमन की प्रक्रिया बड़ी सीधी-सच्ची है, उसे चलना तो चाहिए निर्दिष्ट समय पर, निर्दिष्ट दिशा में, बिना किसी बाधा के, किन्तु जब दुर्घटना होती है,तब हो ही जाती है। बहुत बार उसके कारणों की जाँच होती है और सिद्ध होती है भूल ही, चाहे वही किसी ने भी की हो।

तो, क्रियाशक्ति ने अपने कार्य में ठील नहीं दी, वह गतिशील रही संकल्पशक्ति के ही अनुसार 'अब उसमें भूल हो गई तो क्रियाशक्ति क्या करे ? भूल का अर्थ है—संकल्प शक्ति का दोष, जिसकी भूल से दुर्घटना हुई उसकी संकल्प शक्ति ही गड़बड़ा गई।

क्यों गड़बड़ा गई संकल्प शक्ति ? वही गड़बड़ायेगी जिसमें मन का योग ठीक प्रकार से न होगा। मन ने संकल्प को उत्पन्न किया और संकल्प ने किया क्रियाशक्ति का आवाहन। क्रियाशक्ति का प्रादुर्भाव भी होगया, किन्तु मन ने दौड़ लगादी दूसरी ओर। मन को क्रियाशक्ति की परवाह नहीं, वह जो कुछ करती है करती रहे, मन है कि अपने स्वभाव का ही कार्य करेगा। घोड़े को क्या मतलब कि आपको कहाँ जाना है ? उसे क्या मतलब इससे कि मार्ग समतल है या नहीं उसे क्या मतलब इससे कि आपकी सुरक्षा किस मार्ग पर चलने में है ?

उसे जिस मार्ग पर छोड़ा गया, उसी पर चलेगा। खाई-खड्ड आते हैं तो आये। वह गिरेगा तो आपको भी साथ ले गिरेगा। वह नहीं जानता कि जिस मार्ग पर चलते हैं, उसमें कोई खतरा है, कोई परेशानी है, प्राण जायेंगे या बचेंगे ?

उसे ठीक मार्ग पर ले चलना आपका काम है, घोड़े का नहीं। उसकी प्राणरक्षा का उत्तरदायित्व आप पर ही है। यह निश्चय करना आपका कार्य है कि किस मार्ग पर, किस चाल से चलना चाहिये ऐसे निश्चय का अभिप्राय ही संकल्प से है।

स्थिर मन से ही दृढ़ संकल्प उत्पन्न हो सकता है। परन्तु मन कैसे स्थिर रहे ? वह तो बहुत ही शक्तिशाली है। सहज में वश में आने वाला नहीं। शंकराचार्यजी का कथन है।

मनो नाम महाव्याघ्रो विषयारण्यभूमिषु।
चरत्यत्र न गच्छन्तु साधवो ये मुमुक्षवः ॥

अर्थात्—मन नाम का यह अत्यन्त भयङ्कर व्याघ्र विषय रूपी वन ही विचरण करता है, किन्तु मोक्ष की इच्छा वाले मनुष्यों को उसके साथ नहीं नहीं जाना चाहिये।

मन ही संसार है और मन ही स्वर्ग है, उसी के द्वारा यह दृश्य प्रपंच प्रत्यक्ष हुआ है। उपनिषद्-वाक्य है—'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः' मनुष्यों के बन्धन और मोक्ष का कारण मन ही है।' मनो ब्रह्म' मन ही ब्रह्म है। महर्षि वसिष्ठ का कथन है—

नेह चंचलता हीनं मनः क्वचन दृश्यते।
कंचलत्वं मनो धर्मो वह्ने धर्मो यथोष्णता ॥

अर्थात्—इस संसार में चंचलता-रहित मन कहीं भी दिखाई नहीं देता। जैसे अग्नि का धर्म उष्णता है, वैसे ही मन का धर्म चंचलता है।

ऊपर मन के जो चेतन-अचेतन दो भेद कहे है, उनमें अन्तर यहीं है कि चेतन प्रत्यक्ष और अचेतन अप्रत्यक्ष प्रभाव वाला होता है। चेतन को संचय स्मृति और अचेतन को स्मृति संचय कहते हैं। संचय शक्ति की विद्यमानता जीवमात्र में होती है, किन्तु स्मृति उन्हीं मनुष्यों में पाई जाती है, जिनकी मनोभूमि सुदृढ़ हो।

मनुष्य में जितनी भी बौद्धिक क्रियाएँ होती हैं, उन सब में स्मृति की ही विशेषता रहती है । बुद्धि का उच्च स्तर स्मृति पर ही निर्भर है। अतीत जब हमारे मनस्पटल पर अपना अस्तित्व जमा लेता है, तब उसमें स्मृति ही अपना अस्तित्व बनाये रखती है ।

वस्तुतः मनुष्य जीवन में स्मृति का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है, किन्तु इस स्मृति का ठोस आधार मन की संचय शक्ति ही है । इसको कुछ विद्वानों ने स्मृति शक्ति का नाम दिया है । मन का विकास भी इसी पर आधारित है ।

मन की एक अन्य विशेषता यह है कि उसके जितने भी व्यवहार हैं, उन सब में कोई न कोई प्रयोजन निश्चित रहता है । प्रयोजन के बिना न तो मन का व्यवहार ही हो सकता है और न कोई संकल्प ही । मनुष्य तो क्या, अन्यान्य जीवधारियों में भी इस प्रकार की सप्रयोजनता की विद्यमानता रहती है ।

मन हर समय क्रियाशील रहता है । हम जानते हैं तो मन विभिन्न विषयों प्रत्यक्ष अनुभूति कराता है, सोते हैं तो स्वप्न के रूप में विभिन्न दृश्यों का अवलोकन कराता है । उसी के कारण चलने-फिरने, उठने-बैठने, सोने-लेटने, खाने-पीने या अन्यान्य क्रियाओं में जीव की प्रवृत्ति होती है । अभिप्राय यह कि मन के बिना कभी कोई कार्य हो ही नहीं सकता ।

मन की दो क्रियाएँ मुख्य हैं—(१) अनुभव, और (१) आकार । अनुभव उसे कहते हैं, जो प्रत्यक्ष रूप घटित हो । भोजन करने, पानी पीने, सोने, बैठने, देखने, सूँघने, स्पर्श करने आदि में जो प्रत्यक्षता होती है, वह अनुभव ही है । वस्तुतः यह एक ऐसी मानसिक क्रिया है, जिसके तीन रूप हो सकते है—(१) ज्ञानात्मक, (२) क्रियात्मक और (३) रागात्मक । उनका विवेचन संक्षेप में यह है—

किसी भी प्रकार का प्रत्यज्ञ ज्ञान होना ज्ञानात्मक अनुभव है। क्रियात्मक अनुभव उसे कहते है, जिसमें परिस्थितियों के परिवर्तन की इच्छा हो। सुख, दुःख, पीड़ा, क्रोध आदि के भावों की संवेदना को रागात्मक अनुभव कह सकते हैं।

विभिन्न प्रकार की वृत्तियाँ दृश्य के अनुरूप आकार धारण कर लेती हैं। ध्येय वृत्ति का अभिप्राय ध्येय मूर्ति का आकार धारण कर लेना ही है। स्वाभाविक सामान्य प्रवृत्तियाँ, मूल प्रवृत्तियाँ स्थायी भाव अथवा स्वभावादि को भी मन का आकार कहते हैं। इसीलिये विद्वानों ने मन को विभिन्न अनुभूतियों का अधिष्ठान माना है।

मानव-मस्तिष्क में एक ऐसी क्रिया भी होती है, जिससे समस्त पदार्थ और संस्कार उसमें समाते चले जाँय। यह क्रिया संचय कहलाती है, वही आगे चल कर जब स्वभाव के साथ घुल-मिल जाती है। तब इसका रूप स्मृति या संस्कार हो जाता है। यद्यपि स्मृति और संस्कार में भिन्नता है, तो भी परस्पर में सम्बन्ध की सुदृढ़ता उन्हें अभिन्न बना देती है।

प्रभावशाली मन में सम्मोहित करने की क्षमता

मनुष्य अपना उत्थान चाहता है तो उसे अपने चारों ओर की परिस्थितियाँ अपने अनुकूल बना लेनी चाहिए। यदि प्रयत्न किया जाय तो यह कार्य कुछ असम्भव नही है।

परन्तु इस सबके लिये मन को अनुकूल बनाना होता है। कुछ लोगों ने चेतन मनके भी दो भेद माने हैं—आन्तरिक मन और बहिर्मन आन्तरिक मन की समस्त क्रियाएँ अप्रत्यक्ष रूप से होती हैं। किन्तु बहिर्मन सदैव प्रत्यक्ष क्रियाएँ करता है। एक पाश्चात्य विद्वान् हडसन का कथन है कि 'बाह्य विश्व को जानने का कार्य बहिर्मन द्वारा ही होता है। विभिन्न पदार्थों का स्वरूप जानने के लिये वही ज्ञानेन्द्रियों का उपभोग करता है। मनुष्य की अनेक प्रकार की अपेक्षाओं के कारण ही मन की वृद्धि हुई और हो रही है। अपने सब ओर की परिस्थितियों को जीवन के अनुकूल बनाने के लिए प्राणी निरन्तर प्रयत्नशील रहता है। उस प्रयत्न में मन ही उसका मार्ग-दर्शक है तथा विवेकशक्ति ही इस मन का महत्वपूर्ण धर्म है।'

बहिर्मन बहुत-से कार्यों को सिद्ध करता है, इसके द्वारा विभिन्न प्रकार की प्रेरणाएँ और सूचनाएँ अंतर्मन को निरन्तर प्राप्त होती रहती हैं। जाग्रतवस्था में बहिर्मन ही विभिन्न नवीन परिस्थितियों का सामना करने की शक्ति उत्पन्न करता है। बहिर्मन ही सदैव गतिशील रहता और अत्यल्प समय में ही बहुत-बहुत दूर तक चला जाता है।

यदि मन के विषय में विचार करने बैठें तो स्पष्ट होगा कि समस्त कार्यों में लगाने में मन ही एक मात्र कारण है। हम बिना मन के जो भी कार्य करते हैं, वह सफलता पूर्वक सम्पन्न नहीं हो पाता। लोकमान्य तिलक अपने सुदृढ़ मन और जाग्रत् विवेक के कारण ही विदेशों में देश का सम्मान बढ़ा सके। गाँधी जी ने भी मन के द्वारा ही रक्तहीन क्रान्ति का सूत्रपात किया और अन्त में अहिंसा के बल पर स्वतन्त्रता प्राप्त कर ली।

इस प्रकार मन के बल पर मनुष्य बहुत बड़े-बड़े कार्य पूरे कर सकता है। ऐसे-ऐसे कार्य जिन्हें सुन-देख कर आश्चर्य होता है। यदि

उन कार्यों में मन का योग न हो तो उनकी सम्पन्नता सन्दिग्ध ही रहेगी। क्योंकि मन के योग बिना छोटे से छोटा कार्य भी या होता ही नहीं, और यदि होता भी है तो ठीक प्रकार से तो नहीं ही होता।

और मन ही जब अधिक प्रभावशाली होता है, तब दूसरों को सम्मोहित करने में समर्थ होजाता है। यदि आपने मैस्मेरिज्म या हिप्नोटिज्म के चमत्कार देखे हों तो समझ सकते हैं कि वे कार्य शायद सहज सम्भव न हों। यह भी मन के ही कार्य है।

सम्मोहन (हिप्नोसिस) की अवस्था में मनुष्य की चेतना उस चेतना से पूर्णरूपेण भिन्न होती है, जो जाग्रत्-अवस्था में होनी चाहिये। बाह्य रूप से देखे तों लगता है कि सम्मोहित व्यक्ति निद्रित अवस्था में है। किन्तु वह सम्मोहक (हिप्नोटिस्ट) के आदेश पालन में विशेष रूप से सजग दिखाई देता है।

जब वह सम्मोहित अवस्था में जाग्रतवस्था में आता है तब उसे सम्मोहित अवस्था में अपने ही द्वारा किये गये किसी भी कार्य की याद नहीं रहती। इससे यह समझना कठिन नहीं कि सम्मोहित अवस्था में मनुष्य की चेतना का जो स्तर होता है, वह जाग्रत्-अवस्था के लिये सम्भव नहीं है। विद्वानों ने इसी स्तर को मन की अचेतन अवस्था माना है।

हिप्नोटिक सजेशन और प्रेरणा

अचेतन के इस महत्वपूर्ण स्तर के विषय में सम्मोहन से भी अधिक प्रमाण सम्मोहित होने के बाद का संकेत है, जिसे सम्मोहनोत्तर संकेत (पोस्ट हिप्नोटिक सजेशन) कहते हैं। इस अवस्था में सम्मोहित व्यक्ति को एक निश्चित समय पर कोई कार्य करने को कहा जाता है तब उसे जो आदेश दिया गया है उसका पालन वह तुरन्त करता है। उसी प्रकार जैसे कोई आज्ञाकारी भक्त अपने प्रभु के आदेश को टालने की बात कभीं सोच भी न सकता हो।

एक पाश्चात्य विशेषज्ञ बर्नहीम ने ऐसे ही एक प्रयोग की चर्चा की है, जिसमें उसने एक व्यक्ति को एक नियत समय पर कोई निश्चित कार्य करने का आदेश दिया और उसने आदेश मिलते ही वैसा ही किया। अमेरिका में एक हत्या के मामले में यह रहस्य सामने आया कि हत्यारा एक डॉक्टर था उसने एक नियत समय सर वैसा करने का सजेशन दिया था और उस व्यक्ति ने उसके आदेश का तुरन्त पालन किया।

यद्यपि गोली मारने वाला व्यक्ति उस प्रकार के स्वभाव का न था और न वह उस कार्य के लिये तैयार हो ही सकता था, फिर भी उसने हिप्नोटिस्ट के प्रभाव में आकर वही किया। इससे स्पष्ट हो जाता है कि गोली मारते समय वह मनुष्य मस्तिष्क की चेतन से भिन्न किसी अन्य प्रकार की चेतना द्वारा नियन्त्रित किया जा चुका था।

वस्तुत: यह अचेतन का ही प्रभाव था। बहुत बार मनुष्य कुछ ऐसे कार्य कर बैठता है, जो किये जाने पर मनुष्यकृत प्रतीत नहीं होते। किन्तु मनुष्य द्वारा सम्पन्न किये गये कार्य इतने आश्चर्यजनक हो जाते हैं कि सामान्य व्यक्ति तो उनके विषय में सोच भी नहीं सकते।

बहुत बार देखते हैं कि कोई कार्य करना चाहते हैं, उसके लिये उपयुक्त वातावरण भी है, किन्तु कार्य करने में मन नहीं लगता। उसका कारण मानसिक प्रेरणा का अभाव ही मुख्य रूप से मान्य है। प्रेरणा के बिना भी कार्य का होना कठिन है। वरन् आरम्भ ही नहीं हो पाता।

प्रेरणा होनी चाहिए। कहीं से भी हो। प्रेरणा ही क्रियाशीलता उत्पन्न करती है। विचारों का आवगमन भी प्रेरणा के सूत्र से ही होता है। प्रेरणा नहीं तो विचार भी नहीं यदि विचार चलें भी तो निरर्थक उनके द्वारा कोई तथ्यपूर्ण संगतिनही बैठ सकती।

प्रेरणा का स्रोत कोई भी हो सकता है। कर्तव्य या धर्म की भावना, आजीविकोपार्जन की अनिवार्यता का ज्ञान, पत्नी या प्रेमिका का प्रेम, बल-बच्चों के प्रति स्नेह अथवा आत्म-सन्तोष। और भी बहुत से कारण हो सकते हैं प्रेरणा उत्पन्न होने के।

जिस कार्य में संकल्प अपेक्षित हो, सकल्प आवश्यकता निहित हो, उसमें इस प्रकार की प्रेरणा का होना भी आवश्यक है। प्रायः मानव शरीर खाने, पीने, घूमने, सोने, जागने की आवश्यकता का समय-समय पर अनुभव करता रहता है और यह अनुभव ही उन्हें क्रियात्मक रूप देने मैं प्रेरणादायक होते हैं।

एक ही स्थान में रहते हुए या एक जैसा ही खाते-पीते हुए मनुष्य ऊब का अनुभव करता है, तब उसे लगता है कि कहीं सैर सपाटे को निकला जाय, कुछ ऐसा खाया।पिया जाय जो दैनिक खान-पान से भिन्न हो, बस व अपेक्षा ही उसके लिये प्रेरणा स्वरूप बन जाती है।

इससे स्पष्ट है कि प्रेरणा की मनुष्य को हर समय आवश्यकता हो सकती है। वह उसके लिये दैनिक अनुभव की विषय तो है ही। प्रेरणा जितनी प्रबल होगी, संकल्प शक्ति उतनी ही बढ़ जायगी और अपेक्षित कार्य में भी शीघ्र सफलता प्राप्त होगी।

वस्तुत: प्रेरणा है क्या ? जिसमें किसी क्रिया को उत्पन्न करने और चलाने की अपेक्षा हो, वह प्रेरणा ही है । डॉ० गिलफोर्ड का कहना है कि कोई भी एक आन्तरिक कारक अथवा विशेष दशा, जो किसी क्रिया को आरम्भ करने या बनाने में प्रेरणा दे, वही इसका रूप हो सकता है ।

इस प्रकार मानव जीवन के समस्त व्यवहारों में प्रेरणा का कुछ न कुछ अंश अवश्य रहता है । प्रेरणायुक्त व्यवहार का प्रथम लक्षण शक्ति संचालन (एनर्जी मोबिलाइजेशन) है । किसी स्थान पर आग लग जाय तो उसमें रहने वाले व्यक्ति उस आग से बच कर शीघ्रातिशीघ्र निकल भागने का प्रयास करते हैं । उस समय उनमें जो शक्ति उत्पन्न हो जाती है, वही शक्ति संचालन है ।

आकांक्षाएँ, अभिरुचियाँ और अभिवृत्तियाँ

जैसे किसी भी व्यक्ति में जीवन-दर्शन और लक्ष्य रहता है, वैसे ही उसमें आकांक्षाओं की विद्यमानता भी होती है । किन्तु यह आकांक्षाएँ सभी में समान नहीं होतीं । कोई धन चाहता है, कोई स्त्री या पुत्र चाहता है, कोई कीर्ति चाहता है, किसी को पद की इच्छा है तो किसी को कार आदि वाहनों की चाहना है । इस प्रकार भौतिक सुख-शान्ति की आकांक्षा मनुष्यों में प्राय: ही देखी जाती है । किसी को राज-सम्मान चाहिये तो किसी को कोठी-कार आदि के ठाठ-बाट ।

इसी प्रकार आध्यात्मिक आकांक्षाओं में भी भिन्नता होती है । कोई स्वर्ग चाहता है तो कोई मोक्ष, कोई ब्राह्मणों को भोजन कराने में धर्म समझता है तो कोई जप, तप, दान आदि में । इस प्रकार सभी क्षेत्रों में आकांक्षाएँ रहनी स्वाभाविक हैं ।

परन्तु आकांक्षाओं की भिन्नता होता हुए भी उनका महत्व कम नहीं है । मनुष्यों के आचार-विचार भी आकांक्षाओं के अनुरूप बन जाते हैं । अथवा आकांक्षाओं के अनुसार आचार-विचार बनते हैं ।

आकांक्षाओं के साथ अभिरुचियों का भी महत्व है। प्रत्येक व्यक्ति अनेक प्रकार की अभिरुचियाँ रखता है परन्तु आकांक्षाओं की तरह अभिरुचियों में भी भिन्नता देखी जाती है।

वस्तुत: व्यक्तियों के व्प्रवहार हर अभिरुचि का भी पूरा प्रभाव पड़ता है। जिस वस्तु में मनुष्य की अभिरुचि है, वह मन को अच्छी लगती है और इसीलिये उसे प्राप्त करने की आकांक्षा बढ़ जाती है। इसके विपरीत वह वस्तु हमें अच्छी नहीं लगती, जिसमें हमारी अभिरुचि नहीं होती।

अभिरुचियों के समान व्यक्तियों में विभिन्न प्रकार की अभिवृत्तियाँ देली जाती है। किन्तु यह आवश्यक नहीं कि अभिवृत्तियाँ अनुकूल ही हों, प्रतिकूल भी हो सकती हैं। किन्तु अभिवृत्ति अनुकूल हो या प्रतिकूल मनुष्य के व्यवहार पर इनका महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है।

इन सब स्थितियों से मनुष्यों के स्वभाव बनते हैं। स्वभाव का अभिप्राय आदत से है। मानव जीवन में आदतों का भी पर्याप्त महत्व है। यह आदतें परिवेश से, वंश परम्परा से, वातावरण से या अन्यान्य कारणों से बनती हैं। जब किसी प्रकार की आदत बन जाती है, तब हम उसी के अनुसार कार्य करने को विवश होते हैं। जिस कार्य की आदत नहीं होती, उसे करना कठिन भी प्रतीत होता है।

पाश्चात्य विद्वान् जेम्स का कहना है कि 'आदत समाज में एक शक्तिशाली गति पालक चक्र तथा समाज का मूल्यवान संरक्षक है।' जिन्हें अच्छे कार्यों की आदत होती है, वे समाज में आदर्श पुरुष बन जाते हैं।

इसके विपरीत खराब आदतें मनुष्य के लिए अवनति की कारण भी हो सकती हैं। मान लीजिये कि कोई बीड़ी पीने का आदी है तो बीड़ी पिये बिना नहीं रह सकता। कोई अफीम खाता है उसे उसकी

तलब लगेगी ही। किसी को गाली देने की आदत है तो न चाहते हुए भी उसके मुख से गाली निकल जायगी।

किसान वर्षा, धूप, शीत सहता हुआ भी खेत में पड़ा रहता है। वह शारीरिक परिश्रम भी बहुत करता है, किन्तु जो किसान नहीं, शारीरिक परिश्रम का अभ्यासी नहीं, वह वर्षा, धूप, शीत आदि नहीं सह सकता और न शारीरिक परिश्रम ही कर सकता है।

शहरों में ही उन मजदूरों को देखिये जो मनों बोझा उठा-उठाकर ले जाते और गन्तव्य स्थानों पर पहुँचाते हैं। हमने एक मजदूर को आठ-दस मन भारी सेफ अपनी पीठ पर लाद कर ले जाते हुए स्वयं देखा है। जब कि अन्य मजदूर उतना बोझ लादने में असमर्थ पाये जाते हैं।

बहुत-सी गलत आदतें भी पड़ जाती है। यद्यपि कुछ लोग अपनी बुराई को समझते हैं तो भी उसे छोड़ नहीं पाते। इससे सहज ही यह धारणा बनती है कि आदत की शक्ति किसी भी प्रकार कम नहीं है और मानव जीवन में उसका बड़ा महत्व है।

शक्ति से अधिक प्रयत्न

कुछ लोग ऐसे स्फूर्तिवान और साहसी होते हैं कि वे अपनी शारीरिक शक्ति से अधिक प्रयत्न करने में नहीं घबराते। वैसे सफलता प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि मनुष्य अपने प्रयत्न में कमी न आने दे, वरन् शक्तिभर प्रयत्न करे। किन्तु जो व्यक्ति शक्ति से अधिक प्रयत्न करता है, वह कभी-कभी हानि भी उठा बैठता है और उसे सफलता में भी बाधा का सामना करना होता है।

यदि शक्ति से अधिक प्रयत्न करने की लगन ही तो उसका क्रमशः अभ्यास किया जा सकता है। मान लीजिये कि आपकी भार उठाने की क्षमता बीस किलो की है तो आप उसकी वृद्धि का अभ्यास थोड़ी मात्रा

बढ़ाकर कर सकते हैं। बीस किलो के स्थान पर सवा बीस किलो लीजिये, कुछ दिन बाद साढ़े बीस किलो और कुछ दिन बाद पुनः उतना ही अधिक। किन्तु यदि कोई बीस किलो क्षमता वाला मनुष्य एकदम चालीस किलो भार उठा ले, तो उससे उसे अनेक प्रकार की हानियाँ उठानी पड़ सकती हैं।

क्षमता बढ़ाने के लिए अभ्यास चाहिए। वह वृद्धि भी शारीरिक अनुपात की दृष्टि से ही की जानी चाहिए। शक्ति से बाहर किया जाने जाने वाला कार्य विफलता का कारण भी हो सकता है।

भौतिकता के आकर्षण में ही तनाव और अशान्ति है

कोई कार्य करते हैं तो उसमें बाधाएँ भी उत्पन्न हो सकती हैं। उनके कार्य रुक भी जाते हैं। बहुत-से मनुष्य बाधाओं से निराश होकर कार्य करना ही छोड़ बैठते हैं।

किन्तु कभी-कभी वे बाधाएँ मानसिक संघर्ष (मेंटल कन्फ्लिक्ट) को उत्पन्न कर देती हैं। अनेक कार्य प्रेरणाओं के कारण होते हैं और यह देखा गया है कि कभी-कभी एक से अधिक प्रेरणायें एक समय में, एक साथ उठती हैं। उनके एक साथ उठने से मनुष्य द्विविधा और तनाव की स्थिति में फँस जाता है। उस समय उसकी स्थिति किंकर्त्तव्य

विमूढ़ के समान हो जाती है। वह सोच नहीं पाता कि क्या करना चाहिये और क्या न करना चाहिए। यही स्थिति मानसिक संघर्ष कहलाती है।

मानसिक संघर्ष के मुख्य रूप से दो कारण माने गये हैं—(१) परिवेशगत बाधाएं, और (२) व्यक्तिगत दोष। परिवेशगत बाधाओं से अभिप्राय एन्विरोन्मेंटल आब्सट्रक्शन्स से है। इनके कारण मनुष्य में मानसिक संघर्ष कीं स्थिति उत्पन्न होजाती है।

व्यक्तिगत दोष (पर्सनल डेफिसिएन्सीज) भी संघर्ष उत्पन्न करते हैं। मनुष्य में अपने चारित्रिक, स्वभाव जन्य तथा वैयक्तिक अनेक दोष हो सकते हैं और वे मानसिक संघर्ष के कारण बन जाते है।

मानसिक संघर्ष की स्थिति बहुत हानिकारक हो सकती है। इसके कारण चित्त में खिन्नता बनी रहती है और किसी कार्य के करने में भी ठीक प्रकार से अभिरुचि उत्पन्न नहीं होती।

इस प्रकार यह संघर्ष मनुष्यों की अवनति का कारण भी हो सकता है। जो लोग आत्म-कल्याण के इच्छुक हों, उन्हें रक्त स्थितियाँ से बचने का पूर्ण प्रयत्न करना चाहिए। कुछ लोग कहते हैं कि मानव जीवन ही क्या जिसमें संघर्ष न हो?' हो सकता है कि उनकी बात में कुछ तथ्य हो, किन्तु यह आवश्यक नहीं कि व्यर्थ ही मानसिक तनाव तथा अशान्ति की स्थिति को मस्तिष्क में पाले रहें। जब तक यह तनाव और अशान्ति की विद्यमानता रहेगी, आत्मोन्नति की दिशा में किसी भी प्रकार का प्रयत्न कारगर नहीं हो पाता।

वर्तमान काल में वैसे ही मनुष्य भौतिकता के आकर्षक में खिचा जा रहा हैं। वहाँ भोग है, कामनाओं की पूर्ति की आशा है, और उल्लासमय जीवन का भ्रम है। ऐसा भ्रम जो आगे की ओर खींचता और सिकन्जे में कस लेता है। फिर आप फड़फड़ाते हैं, फड़फड़ाते रहें

रोते हैं रोते रहें, हँसते हैं हँसते रहें, किन्तु उस शिकंजे से, उस जाल से निकल कभी नहीं सकते।

किन्तु वह स्थिति हम स्वयं बनाते हैं। उसके जिम्मेदार हम स्वयं ही हैं। चिड़िया जाल में फँसे तो पकड़ने वाले का दोष इतना ही है कि उसने जाल खड़ा कर दिया। उसका तो काम ही फँसाने का है तो चिड़िया के फँसने पर तो दुःखित होने से रहा।

भौतिकता में जो आकर्षण है, वह तनाव रूप है, अशान्ति रूप है, दुःख ही दुःख विद्यमान है उसके चारों ओर। भौतिकता ने अपनी सुरक्षा के लिए ही दुःखों का परकोटा खड़ा किया हुआ है। परन्तु वह दुःख उसी प्रकार का है, जैसे कोई दुष्ट पाखण्डी किसी साधु-सन्त का चोला धारण करले। लगता है कि वहाँ सुख है. किन्तु यथार्थ में क्या है वह ?

गैस भरे गुब्बारे कों देखा है आपने ? डोरा में बाँध लेने पर भी ऊपर की ओर उठता-भागता है। किन्तु हवा निकल जाने पर नीचे गिर जाता है। क्योंकि उसमें जो शक्ति थी गैस की, वह निकल गई। उसका तनाव समाप्त होगया, वह अशक्त होगया पूरी तरह।

मनुष्य भी उसी तरह आकर्षित होता है भोगों की ओर! वह उठना चाहता है ऊपर की ओर, किन्तु उसमें जो शक्ति है, उसका भोगों में अपव्यय होने के कारण पतनोन्मुख होना पड़ता है उसे। वह गिर पड़ता है अपने लक्ष्य से उसी गैस निकले गुब्बारे के समान।

परन्तु, भौतिकता कीं ओर दौड़ लगाते हुए मनुष्य को उस समय उसका आभास महीं होता कि वह क्या करने जा रहा है ? वह नहीं जानता कि जिस ओर उसकी प्रवृत्ति है, उसका परिणाम क्या होगा ? और इसी नासमझी में वह गाँठ की भी गँवा देता है जो बुद्धि होती है, वह भी अविवेक के रूप में बदल खाती है।

विवेक के नष्ट होते ही न जानें क्या-क्या कर बैठता है मनुष्य ? अविवेक ही तो समस्त बुराइयों की जड़ है। वही मानसिक तनाव रूप अशान्ति को जन्म देती है। उसी के कारण मनुष्य स्वर्ग की कामना करता हुआ भी नरक की ओर बढ़ने में संकोच नहीं करता।

विवेक से शान्ति की उपलब्धि

विवेक ज्ञान है, उसो के द्वारा आत्मा को छिपाने वाला आवरण दूर होता है। उसी के द्वारा बुद्धि में बैठा हुआ देहाध्यास नष्ट हो सकता है। उसी के द्वारा आत्मा-परमात्मा का ऐक्य स्थापित किया जा सकता है। जन्म-मरण के बन्धन से छुड़ाने वाला ही विवेक है।

विवेक जागता है तब स्वर्ग के द्वार खुल जाते हैं। मोक्षमार्ग को प्रशस्त करने के लिए विवेक ही बहुत बड़ा साधन है। वैकुण्ठ या ब्रह्म-लोक के लिये विवेक का ही सहारा लेना होता है। रुद्र लोक की इच्छा वालों के लिये भी यही वाहन रूप हैं।

इसके विपरीत, अविवेक से बुद्धि कुण्ठित रहती है। उसमें अज्ञान और देहाध्यास भरा रहता है। मनुष्य शरीर में आत्म बुद्धि करेगा तो परमात्मा में आत्म-बुद्धि कैसे होगी ?

अविवेक ही अशुभ कर्मों में प्रमुख कारण है। संचित पापों को नष्ट करने में विवेक से ही सहायता ली जा सकती है। अन्यथा कर्मों का क्षय किसी प्रकार सम्भव नहीं है। शास्त्र का कथन है—'शुभनामशुभानां च

नेह नाशोऽस्ति कर्मणाम्' अर्थात् 'कर्म शुभ हों अथवा अशुभ उनका नाश कभी नहीं होता।'

कर्मों का नाश तभी हो सकता है जब कर्म से कर्म को काटा जाय। कर्मों का परिपाक कार्य भी रुकता नहीं। महाभारत का हीं निर्देश है इस विषय में—

प्राप्यप्राप्यानुपच्यन्ते क्षेत्र क्षेत्र यथा तथा।
क्षेत्रकर्मजमाप्नोति शुभ वा यदि वाऽशुभम् ॥

अर्थात्—खेत-खेत को पाकर जो पकता और फल लाता जाता है। इसी प्रकार कर्मों के पाक के फल का भी क्रम चलता रहता है। उसी के अनुसार शुभगति और शरीर को मनुष्य कर्मों के अनुसार प्राप्त किया करता है।

मनुष्य जो कर्म करता है, उसे स्वयं भोगता है, शिवपुराण के अनुसार—

न केचित्प्राणिनः सन्ति ये न यान्ति यमक्षयम्।
अवश्यं हि कृतं कर्म भोक्तव्यं तद्विचार्यताम् ॥

अर्थात्—सभी प्राणियों को अपना कृत कर्म अवश्य ही भोगना पड़ता है। इसलिए ऐसा कोई जीव नहीं, जो यमलोक को न जाता हो। क्योंकि शुभ और अशुभ कर्मों का निर्णय वहीं हो सकता है।

प्रारब्ध कर्मों का क्षय होना बहुत कठिन है। अक्ष्युपनिषद् का कथन है—

ज्ञानोदयात् पुराऽऽरब्धं कर्म ज्ञानान्न नश्यति।
यदत्वा स्वफलं लक्ष्यमुद्दिश्यात्सृष्ट बाणवत् ॥

अर्थात्—ज्ञान के उत्पन्न होने पर पूर्व में किये हुए प्रारब्ध के भोग तो भोगने ही होते हैं। वस्तुतः उन कर्मों का नाश नहीं होता। क्योंकि धनुष से छूटा हुआ तीर लक्ष्य पर प्रहार करता ही है।

यद्यपि अक्ष्युपनिषद् की उक्त मान्यता में बल है, तथापि ज्ञान होने पर मनुष्य अपने आचरण में सुधार करके शुभ कर्म करने लगता है। शुभ कर्मों के द्वारा अशुभ कर्मों का नाश स्वाभाविक है। लोहा ही लोहे को काटता है, विशेष कर गर्म लोहे को ठण्डा लोहा। अशुभ कर्म उसी गर्म लोहे के समान हैं जो शुभ कर्म रूपी ठण्डे लोहे के द्वारा सहज में ही काटे जा सकते हैं।

यह कोई कल्पना नहीं, कोई अनुमान नहीं, प्रत्यक्ष है। जो प्रत्यक्ष हो वह चाहे विज्ञान हो, है प्राकृतिक ही। जो प्राकृतिक है वह भी सत्य है। विज्ञान भी प्रकृति से दूर नहीं है। वह भी प्रकृति से बाहर कुछ नहीं कर सकता। वैज्ञानिक भी इस तथ्य को स्वीकार करते हैं कि 'संसार में जो कुछ भी है, प्राकृतिक है, प्रकृति के नियम के विरुद्ध नहीं है।'

दैवी विपत्तियों के मूल कारण

प्रायः बाढ़ आती हैं, भूकम्प होता है, ज्वालामुखी फट पड़ता है, अतिवृष्टि या अनावृष्टि होती है, बिजली कड़कती है और कहीं गिर भी जाती है। परन्तु क्यों होता है ऐसा ? लोग कहते हैं यह दैवी विपत्तियाँ हैं, कोई इन्हें आकस्मिक घनाएँ बताते हैं, किन्तु वस्तुतः न यह दैवी विपत्तियाँ हैं, न आकस्मिक घटनाएँ ही। यह जो कुछ भी होता है प्रकृति के द्वारा ही होता है। इन सब में प्रकृति के सूक्ष्म नियमों का ही हाथ है।

परन्तु लोग नहीं जानते कि यह सब प्राकृतिक रूप से ही हो रहा है। कहीं धरती धसक जाती है। उस पर यह विचार उठ सकता है कि न जाने कब से समतल रही हुई धरती आज धसक गई है तो फिर किस स्थान का क्या ठिकाना ? अब तो बड़े-बड़े पर्वत धसकने लगे हैं, यहाँ तक कि पर्वतों पर बसे हुए गाँवों में भी ऐसी मुसीबत आ गई है। लोग परेशान हैं कि क्या करें ? इस प्रकार के संकट से छुटकारा कैसे हो ?

न जाने और भी कौन-कौन से स्थान खिसक जांय, ऐसा भय व्याप्त हो गया है उधर के लोगों में। पर्वतीय क्षेत्र में ही नहीं, मैदानी क्षेत्र में भी ऐसी कुछ घटनाअएँ घटी हैं। लोग इसे भाग्य का खेल भी कहते है।

वैज्ञानिकों का मत है कि जिस भूभाग के नीचे पानी का स्तर घट जाता है, वहाँ की धरती धँस सकती है। पर्वतीय क्षेत्र के धसकने का कारण भारी वाहनों के लिए मार्ग काटना और उन वाहनों का चलना आदि भी समझा जाता है। जिस क्षेत्र का पानी की कमी से धसकना समझा गया है, वह प्रकृति का सूक्ष्म नियम ही तो है। पृथिवी जल पर ठहरी हुई है, यह प्राचीन मान्यता है। आज का वैज्ञानिक उक्त बात कह कर उसी मान्यता की पुष्टि करता है।

जहाँ वाहनों के चलने आदि कारणो से धसकना संभव हो, वहाँ यह मानना होगा कि प्राकृतिक नियमों में व्यवधान ही उसका मुख्य कारण है। अनेक घटनाएँ प्राकृतिक नियमों को तोड़ने के फल स्वरूप हुई देखी जाती हैं। उन्हें दैवी विपत्ति कह लें अथवा कुछ और ?

परन्तु इन घटनाओं से प्रभावित मनुष्य जिन संकटों का सामना करते हैं, उनका कारण क्या है ? क्या प्रकृति उनके प्रति अकारण ही अनावश्यक रूप से ही इस प्रकार का क्रूर व्यवहार करती है ? वस्तुतः

प्रकृति उन घटनाओं में माध्यम तो है और वह अपने सूक्ष्म नियमों के अनुसार उस प्रकार की घटनाओं की सृष्टि भी करती है, किन्तु मुख्य रूप से उन-उन स्थानों में रहने वाले मनुष्यों का प्रारब्ध ही उन संकटों में कारण बनता। जिसने जैसे कर्म किये हैं, उसे उसी के अनुसार कम या अधिक दुःख उठाने पड़ते हैं। जो लोग उन भयंकर विपत्तियों में भी बच जाते और किसी प्रकार की हानि नहीं उठाते, वे अवश्य ही श्रेष्ठ कर्मी होंगे। क्योंकि श्रेष्ठ कर्म ही सुख के कारण हो सकते हैं।

बहुत-से चमत्कार देखे जाते हैं। कोई उन्हें जादू कहता है तो कोई सिद्धि और कोई विज्ञान। वस्तुत जादू का कोई अस्तित्व नहीं है। लोगों को सम्मोहित करके उनकी देख वाली क्षमता को अपने अनुकूल बना लेना ही जादू है। एक बार स्वामी विवेकानन्द ने एक चमत्कार दिखाने वाले मनुष्य से पूछा कि 'तुमने यह सब कैसे किया ? तो उसने उत्तर दिया कि 'यह सब हाथ की सफाई है।'

बहुत-से जादूगर अनेक प्रकार के चमत्कार दिखाते हैं और देखने वाले उन्हें देख कर आश्चर्य चकित रह जाते हैं। उन चमत्कारों में जादू कुछ नहीं होता, कुछ हाथ की सफाई रहती है तो कुछ वैज्ञानिक सूझ-बूझ। उसी से दर्शक समझते हैं कि वे जादू देख रहे हैं।

जादूगर मनुष्य की दृष्टि को बाँध लेते हैं, जिससे उन्हें वही दिखाई दे, जो जादूगर चाहे। दृष्टि बाँधने की यह क्षमता उन्हें योग के त्राटक से प्राप्त होती है। मेस्मेरिज्म इसी क्षमता का नाम है। इसे जादू कह लो या कुछ और।

सिद्धि में भी चमत्कार भरे रहते हैं। वस्तुतः जादू के द्वारा जो कार्य नही हो सकते, वे अद्भुत कार्य सिद्धि के द्वारा ही संभव हैं। परन्तु इन सिद्धियों की प्राप्ति सभी के लिये समान रूप से नहीं होती। अपनी-

अपनी साधना के अनुसार ही क्षुद्र या महती सिद्धियाँ प्राप्त हो सकती हैं।

गतिशीलता में ही सिद्धि और सफलता का रहस्य निहित है

किन्तु वे सिद्धियाँ चाहे साधनाओं के फलस्वरूप ही क्यों न हों, प्राकृतिक अवश्य हैं। प्रकृति से भिन्न कहीं कोई कार्य नहीं हो सकता। प्रकृति में ही पृथिवी आदि पंचभूतों का समावेश है और संसार में रह कर जितने भी कार्य हो सकते हैं, वे पंचभूतात्मक ही होंगे। सिद्धि-प्राप्त मनुष्य उन्ही भूतों को अपने अनुकूल बना कर कार्य निकालने में सफल होता है।

जल पर चलना, आकाश में उड़ना, धधकती हुई आग में प्रविष्ट हो जाना जैसे चमत्कार भूत-जय से ही सम्भव हैं। जो लोग जल की धारणा द्वारा जल पर विजय प्राप्त कर लेते हैं वे जल पर चलने की असाधारण शक्ति प्राप्त कर लेते हैं। उन्हें जल में डूबने आदि का कोई भय नहीं रहता।

जो लोग आकाश में उड़ सकते हैं, उनकी सिद्धि का कारण आकाश तत्व को जीत लेना है। वे वायु तत्व को भी अपने अनुकूल बना लेते हैं, जिनसे कि आकाश गमन वाले कार्य में वायु किसी प्रकार का व्यवधान उपस्थित न कर सके।

अग्नि पर विजय प्राप्त कर लेने वालों को आग में जलने का भय नही होता। वे निर्भय और निशंक रूप से धधकती हुई भीषण आग में प्रविष्ट होजाते हैं। किन्तु उनका बाल भी बाँका नहीं हो सकता। इस प्रकार की सिद्धि धारणाओं के अभ्यास से प्राप्त की जा सकती है, जो कि योग का ही एक अङ्ग है।

और यह सभी सिद्धियाँ, सभी प्रकार की शक्तियाँ मनुष्यों को अभ्यास के द्वारा ही प्राप्त हो सकती है। अभ्यास में जो कष्ट उठाने होते हैं, वे कष्ट ही आत्मोत्थान में कारण हो सकते है। वस्तुतः वे कष्ट नहीं, शरीर को स्फूर्तिमय बनाने की ही क्रिया मात्र हैं, साधक उनके द्वारा अभूतपूर्व लाभ उठाने में समर्थ होता है।

कुछ लोग कहते हैं कि सत्कर्मों के लिये विवेक की जाग्रति भी प्रारब्ध के अनुकूल होने पर ही सम्भव है। जो कुछ साधना आदि कर्म बन पाते हैं, वे तभी जबकि शुभ कर्मों का उदय हुआ हो। यदि भाग्य में वैसा करना नहीं है तो न विवेक जाग्रत् होगा, न शुभ कर्म ही हो सकेंगे।

परन्तु, यह मान्यता मनुष्यों के आत्मिक उत्थान में बहुत बाधक हैं। केवल भाग्य के भरोसे बैठे रहने से श्रेय-सम्पादन तो असम्भव है ही, निष्क्रियता भी बढ़ती है। जब निष्क्रियता बढ़ेगी तब आध्यात्मिक तो क्या, भौतिक कार्य भी ठीक प्रकार से नहीं हो सकते।

वस्तुतः यह भाग्यवादी प्रवृत्ति ही मनुष्य के उत्कर्ष में बाधा उत्पन्न कर रही है। भाग्य के भरोसे बैठे रहने से कभी कोई कार्य बनता हुआ नहीं देखा जाता। उदाहरण लीजिये कि आपके सामने भोजन की थाली रखी है, उसमें से भोजन आपके मुख में तभी पहुँचेगा जब उसे हाथ से उठाकर मुख में रखेंगे। यदि यह मान लें कि हमारे

भाग्य में भोजन है और हाथ से काम न लें तो क्या आप अनुभव करेंगे कि आपका पेट भर गया है।

इससे स्पष्ट है कि भाग्य के भरोसे बैठे रहने से कभी कोई कार्य नहीं हो पाता। कर्म करना अपेक्षित है और वही जीवन है जिसमें क्रिया हो। यदि क्रिया नहीं तो जीवन भी नहीं। शरीर में सातु धातुओं की विद्यमानता मानी गई है, जिनमें रक्त का महत्व सब से अधिक है। रक्त कभी निष्क्रिय नहीं रहता वह सदैव गति करता है। उसी की संचरण शक्ति मनुष्यों को जीवन दिये हुए है। जिस अङ्ग में रक्त का संचरण बन्द हो जाता है, वही अङ्ग बेकार हो जाता है। रक्त रुका कि अङ्ग की सक्रियता रुकी। रक्त रुका कि पक्षाघात हो गया।

और रक्त को गतिशील बनाये रखने का कार्य भी शरीर का ही एक विशेष अङ्ग करता है। वह अङ्ग है हृदय। समस्त शरीर के दूषित रक्त को हृदय अपने में समेट कर फेंकड़ों में भेजता और वहाँ से शुद्ध हुए रक्त को सभी अङ्गों को पहुँचाता है। इस प्रकार हृदय सदा ही क्रियाशील रहता है। उसका कार्य कभी रुकता यहीं, यदि रुक जाय तो जीवन ही न रहे। एक क्षण भी उसकी गति, उसका स्पन्दन रुका कि प्राण गये, जीवन गया, आयु गई। हृदय रुका कि मनुष्य गया।

चिकित्सकों की भाषा में हृदय के रुकने वाली अवस्था हृदया-वसाद कहलाती है। अवसाद तो बहुत से हैं, किन्तु मानव जीवन सब से अधिक हानिकारक हृदयावसाद ही है। उसके कारण प्राणों पर ही आ बनती है।

जैसे हृदय की गतिशीलता जीवन के लिये अनिवार्य है, वैसे ही आत्मा की उन्नति के लिये कर्म भी अनिवार्य है। यदि किसी कर्म में मन का योग भी सुदृढ़ हो तो उसमें सफलता संदेहात्मक नहीं रहती :

भाग्यवाद मनुष्य की सफलता में बाधक है तो कर्मवाद उसकी सफलता को सुलभ कराता है।

किन्तु कर्म के साथ मन की दुर्बलता भी बाधक बन जाती है। दुर्बल मन कभी ही सफलता में बाधक भले ही न बने, किन्तु अधिकतर तो असफलता का ही कारण होता है। इसीलिये विद्वानों ने मन को सुदृढ़ बनाने पर अधिक जोर दिया है।

शुद्ध मन ही आत्म विकास का राजमार्ग है

सुदृढ़ मन बड़े-बड़े कार्यों को सम्पन्न कर सकता है। जिस क्षेत्र में सफलता न मिल रही हो, मन को उसमें लगा कर देखिये तो आप पायेंगे कि अभूतपूर्व सफलता प्राप्त हो रही है। जितने भी बड़े-बड़े आविष्कार देखने में आते हैं, वे सब मन के ही योग से हुए हैं।

रेल, तार, टेलीफोन, टेलीविजन, रेडियो, रेकार्डर आदि यन्त्र तो अब पुराने पड़ चुके हैं। जब इनका आविष्कार हुआ था, तब लोग इन्हें देख कर भी आश्चर्य करते थे। वे सोचते थे कि ऐसा कभी नही हुआ, अभूतपूर्व है यह सब। बहुत-से लोग तो उसे दिव्य शक्ति का ही चमत्कार मानते थे।

जब प्रथम बार रेलगाड़ी को इन्जिन सहित स्टेशन के प्लेटफार्म पर लाया गया था तब लोगों ने उसे कोई अद्‌भुत कार्य ही समझा था। बहुत-से लोगों ने इंजिन को शक्ति मान कर पूजा और नमस्कार किया था। किन्तु आज रेलगाड़ी सभी की आदत मे आ गई है और सभी समझ गये हैं कि यह कोई दिव्य चमत्कार नहीं, वरन् मशीनात्मक है। इस मशीन और डिब्बे आदि का निर्माण किसी देवता ने नहीं, मनुष्य ने ही किया है।

किसी भी वस्तु का उपयोग आरम्भ करते हुए उसके प्रति आभार व्यक्त करना हमारे देश की तो परम्परा ही रही है। शुभ कार्य में आने वाली वस्तु होथा अशुभ कार्यमें आने वालीहम उसकी पूजा सदासे करते रहे हैं। उसमें जो भावना रही वह स्पष्ट है कि जड़ या चेतन कोई भी पदार्थ हो, परमात्मा काही रूप है, क्योंकि उसकी उत्पत्ति परमात्मा से ही हुई है।

जब राजा लोग युद्ध के लिये प्रस्थान करते थे, तब घर से चलने से पहिले अपने अस्त्र-शस्त्रों का पूजन करते थे। डाकू भी जब डाका डालने जाते तब तलवार का पूजन करके ही अभियान का आरम्भ करते थे। इस प्रकार हमारे मन में श्रद्धा, विश्वास, विनय आदि का समावेश सदा से रहा है। हमने यात्रा आरम्भ की तो वाहन को नमस्कार किया और लक्ष्य पर पहुँचे तो वहाँ की भूमि को। इस प्रकार हम अपने विनय भाव को कभी नहीं भूल सके।

अनेक व्यक्ति आज भी, पेड़ों से पत्र, पुष्प, फल आदि ग्रहण करते हैं तो पहिले उस पेड़ को नमस्कार करते हैं। विभिन्न त्यौहारों पर वृक्ष-पूजन की परम्परा हमारे यहाँ अब तक चली आ रही है। श्रद्धा भाव के कारण ही हम हरे वृक्षों को नहीं काटते, हम जाते हैं कि वृक्षों में भी प्राण होते हैं। सूखे पेड़ काटने में भी कभी-कभी आशंका रहती है कि यह भीतर से कहीं हरा न हो।

एक लकड़ी काटने वाले (लकड़हारे) के विषय में हमें जानकारी है कि वह जिस वृक्ष से लकड़ी काटता, पहिले उसे प्रणाम करके कहता कि 'वृक्ष देवता मेरे अपराध को क्षमा करना।' वह भरसक यह प्रयत्न करता कि गीला वृक्ष न काटे। इस निष्ठा की रक्षा में उसे अनेक बार आजीविका से वंचित रह जाना पड़ा है।

उसकी इस प्रकार की निष्ठा में मन का ही अत्यन्त योग है। मन में धार्मिक भावना रहे तो अशुभ प्रवृत्ति से बहुत कुछ बचा जा सकता है। अशुभ प्रवृत्ति का अभिप्राय पाप से है। पाप सेवचने के लिये शुद्ध मन चाहिए। यदि मन अशुद्ध है तो अशुद्ध भोगों की ओर ही प्रवृत्ति होगी।

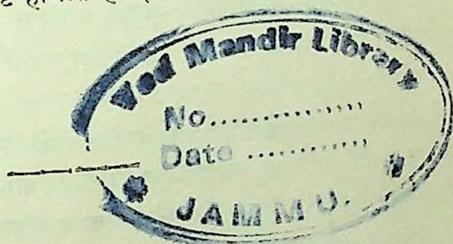
मन जहाँ अत्यधिक सबल है, वहाँ व्यापक भी है। किसी वस्तु की सर्वत्र पहुँच हो वह व्यापक ही मानी जायगी। मन की पहुँच सर्वत्र है, जहाँ कोई नहीं पहुँच सकता, वहाँ मन पहुँच सकता है। बड़े-बड़े सम्राटों, शाहंशाहों के दर्बारों में भी, जहाँ साधारण व्यक्तियों को जाने का निषेध था, उनका मन तो पहुँच ही जाता था। राज महलों के अन्तरङ्गभाग में भी उसे जाने से नहीं रोका जा सका। जो महिलाएं भवन की चार दीवारी कभी नहीं लाँघ सकती थीं, जिन्हें सूर्य की किरणें भी स्पर्श नहीं कर पाती थीं, वहाँ मन उनके वस्त्रों में प्रविष्ट होकर खबर ले आता था।

अनेक कवियों ने राजरमणियों के सौंदर्य का वर्णन किया वे क्या उनके शरीर को देख पाये थे। उनके मन की कल्पना ही उस यथार्थ का दर्शन करा सकी। गंगा लहरी में पण्डित जगन्नाथ ने ऐसी ही एक बात कह दी—

प्रभाते स्नातीनां नृपतिरमणीनां कुच तटिः
गतो यावन्मातर्मिलति तवतोयैर्मृगमदः।

मृगास्तावद्वं मा निकशतसहस्त्रैं परिवृता
विशन्ति स्वच्छंदं विमल वयुषो नन्दनवनम् ॥

अर्थात्—हे गंगे ! हे माता ! प्रातःकाल स्नान करती हुई राजरम-
णियों के स नों में लगी हुई कस्तूरी जब तुमारे जल का स्पर्श पाती हैं,
तव (जिन मृगों की वह कस्तूरी है) वे सैकड़ों हजारों मृग भी (आपके
पुण्य जल के प्रभाव से मुक्त होकर) स्वच्छंद भाव से निर्मल शरीर हुए
स्वर्ग के नन्दन कानन में प्रविष्ट होजाते हैं (अथवा वहाँ स्वच्छन्द रूप
से विहार करते हैं)



मन की आँखों से दूर-दर्शन

तो, इस प्रकार के वर्णन मन की शक्ति से ही किये जा सकते हैं।
मन की शक्ति बड़े-बड़े कार्यों को सिद्ध करती है। भारतीय विद्वान् तो
उस शक्ति को स्वीकार करते ही रहे हैं, पाश्चात्य विद्वान् भी उसके
विषय में अनुसन्धान रह हैं। उन्हें भी विभिन्न क्षेत्रों में अपेक्षित सफलता
मिल सकती हैं। इस विषय में स्टेनफोर्ड रिसर्च इंस्टीट्यूट, कैलिफोर्निया
के डॉ० रसेल टार्ग और हेरल्ड पुटहोफ ने अनेक प्रयोग किये और उनमें
सफलता प्राप्त की।

हमारे आचार्य योग के द्वारा दिव्य दृष्टि प्राप्त करने का उपाय दीर्घ
काल से बताते चले आ रहे हैं। वस्तुतः योगाभ्यास के द्वारा वे सभी
शक्तियाँ सहज ही प्राप्त हो सकती हैं, जिनकी संभावना अन्य किसी

प्रकार नहीं है। परन्तु इस विषय में पाश्चात्य विशेषज्ञों तथा अन्वेषकों ने और भी सरल विधियों के प्रयोग किये हैं। उनके द्वारा जो सफलताएँ उन्हीं मिलती रही हैं, उसकी चर्चा समाचार पत्रों में समय-समय पर होती रही है।

अभी एक लेख 'मन की आँखों से दूर-दर्शन शीर्षक से साप्ताहिक हिन्दुस्तान में प्रकाशित हुआ है। उसमें डा० टार्ग और डा० पुटहोफ के विभिन्न प्रयोगों पर प्रकाश डाला गया है। उन्हें पढ़ने से विदित होता है कि उन्हें इस दिशा में अभूतपूर्व सफलता मिली है। इन प्रयोगों में पुरुषों की भूमिका तो रही ही, स्त्रियों को भी असफलता नहीं देखनी पड़ी।

उक्त दोनों वैज्ञानिकों ने अपने प्रयोगों के निष्कर्ष रूप में यह घोषणा की है कि कोई भी व्यक्ति दिव्य-दर्शन की क्षमता प्राप्त कर सकता है। उनकी मान्यता है कि जैसे कोई व्यक्ति साइकिल चलाना सीख सकता है, वैसे ही मन की आँखों के द्वारा दूर-दर्शन की क्रिया भी सीख सकता है। उनके अनुसार सर्व प्रथम यह करना चाहिये कि मन से सन्देह और ऊहापोह निकाल दे।

ओर सन्देह निकाल देने की वात हमारे यहाँ भी कही जाती रही है। यदि किसी घटित होने के प्रति सन्देह रहता है तो वह घटित हो नहीं हो सकता। क्योंकि किसी भी कार्य में सफलता की दिशा में सब से प्रवल विघ्न सन्देह है। सन्देह नमस्त उत्साह समस्त साहस और समस्त योजना को ही नष्ट कर देता है।

उक्त वैज्ञानिकों का मत है कि सन्देह का त्याग करने के पश्चात् यह विश्वास करना चाहिये कि संसार की रचना इन्द्रियेतर ज्ञान की सम्भावना को ध्यान में रखते हुए ही हुई हैं। इसलिए उक्त बात पर विश्वास करने के साथ ही उसे मुख से भी कहना चाहिये। फिर यह भावना करे कि 'मेरे भीतर जो शक्ति छिपी है, मुझे उस शक्ति को

जाग्रत् मात्र करना है । ऐसा करना मेरे लिये सभी प्रकार से हितकर रहेगा ।'

इन बातों पर विश्वास करना अपेक्षित है और साथ ही भावना के साथ उच्चारण भी किया जाय । इसके बाद उच्चारण सहित ही यह भावना की जाय कि 'मैं यहाँ बैठे-बैठे ही सुदूर के दृश्यों को देख सकता हूँ ।' यह सभी बातें तब तक दुहरानी चाहिये जब तक साधक अपने को पूर्ण रूप से तैयार न कर ले । अभिप्राय यह है कि मनोभूमि में उक्त भावना दृढ़ता से अपना स्थान बना ले, उच्चारण द्वारा और विश्वास द्वारा भी ।

इस प्रकार की मनोभूमि तैयार होने पर साधक अपने किसी सुहृद मित्र से कहे कि वह एक निश्चित समय किसी ऐसे स्थान पर पहुँच जाय, जिसके विषय में साधक को बताया न गया हो । उस स्थान पर उसे कम से कम पंद्रह मिनट तक अवश्य रहना चाहिए । किन्तु वह वहाँ रहकर केवल उस स्थान का निरीक्षण परीक्षण मात्र करता रहे, पर साधक को किसी प्रकार का संकेत या सूचना भेजने का प्रयास न करे ।

उस निश्चित समय पर साधक को किसी सुविधाजनक, एकान्त तथा शान्त स्थान में रहना चाहिये । उस स्थान में प्रकाश तीव्र न रहे तो उत्तम है । साधक को वहाँ सतर्क और सावधान चित्त से तथा मन को पूर्ण रूपेण एकाग्र बना कर बैठना चाहिए । मन में कोई भी विचार न चलता रहे । बस इतनी ही सावधानी पर्याप्त होगी, ध्यान लगाने की कोई आवश्यकता नहीं है ।

अब साधक अपने किसी ऐसे दूसरे मित्र को बताना आरम्भ करे, जिसे प्रथम मित्र के स्थान की जानकारी न हो । वह मित्र साधक से स्थान विशेष के विषय में स्पष्ट बताने से सम्बन्धित प्रश्न कर सकता है, जैसे कि 'आप क्या देखते हैं ? उसमें कैसा रङ्ग और कैसी आकृतियाँ

है ? इत्यादि। किन्तु साधक को अधिक विश्लेषण नहीं करना चाहिये। स्थान का नाम भी न बताये, केवल वही बातें कहे जिसका उसे अनुभव हो रहा हो।

जो दृश्य अनुभव में आये उसे रेखांकित करने का प्रयत्न करे। रेखाएँ कितनी ही अनजानी या अद्भुत प्रतीत हों, साधक उन्हें खींचता रहे। उन रेखाओं में बारीकियों का उभार तब आयेगा जब साधक उनका मिलान वास्तविक दृश्य से करेगा। प्रयोग की निश्चित अवधि समाप्त होने पर शीघ्रातिशीघ्र निश्चित करे। इससे आगे किये जाने वाले प्रयोगों में सफलता के मार्ग प्रशस्त होने का अवसर प्राप्त होगा।

उक्त प्रकार के निर्देश और प्रयोग मन की शक्ति पर अच्छा प्रकाश डालते हैं। यदि अभ्यास को उत्तरोत्तर दृढ़ किया जाता रहे तो और भी अधिक आश्चर्यजनक परिणाम सामने आ सकते हैं। हमारे शास्त्र इस विषय में न जानें कब से आश्वस्त हैं, किन्तु खेद है कि आज भौतिकता की चमक-दमक ने हमारे हृदयों में शास्त्रों के प्रति अश्रद्धा उत्पन्न कर दी है। हम उस बात पर पहिले विश्वास करते हैं, जो किसी पाश्चात्य विद्वान् द्वारा कही गई हो। अन्यथा हमारे यहाँ ऐसे-ऐसे प्रमाण भरे हुए हैं, जिनसे मन की महती शक्ति का अत्यधिक चमत्कार सिद्ध होता हैं। कहा गया है—

यज्जाग्रतो दूर मुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति।
दूर गमं ज्योतिषां ज्योतिरे कन्तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥

अर्थात्—मेरा जो मन जाग्रत् अवस्था में दूर-दूर भागता और सुप्तावस्था में भी वैसा ही गमनशील रहता है, वह दूर से दूर पहुँचने वाला, ज्योतियों का भी ज्योति रूप एक मात्र दिव्य शक्ति से तथा शुभ संकल्पों से सम्पन्न हो।

———

मन से अवनति और मन से ही उत्थान

ऐसी महान शक्तियों से सम्पन्न मन ही यदि पाप कर्म में लग जाता है तो मनुष्यों के किए अवनति के गर्त में डाल देने में कारण स्वरूप हो जाता है। मन की शक्ति हो मनुष्य को दुराचारी, मद्यपी, हिंसा करने वाला, चोर आदि बना देती है। जब पाप उसमें बस जाता है तब उसका निकलना कठिन ही होता है।

किन्तु निश्चय की दृढ़ता उसमें सुधार ला सकती है। जब-जब मन काबू में न आता दीखे तब तक उसे धीरे-धीरे स्थिर करने का प्रयत्न किया जाय। प्राचीन काल में भी मन की इस प्रकार की वृत्तियाँ रही हैं तथा उनसे छुटकारा पाने का भी प्रयत्न किया जाता रहा हैं। अथर्ववेद (६।४५।१) के अनुसार—

परोऽपेहि मनस्पाप किमशस्तानि शंससि।
परे हि न त्वा कामये वृक्षां वनानि संचर गृहेषु गोषु मे मनः।

अर्थात्—अरे मन में विद्यमान पाप! तू दूर चला जा। मेरे मन से दूर हट। तू बुरी बातों में ही लगा रहता है, इसलिये चला जा। मैं तुझे पसन्द नहीं करता। तू वनों में या वृक्षों में जाकर अपना स्थान बना। मैं तेरे चले आने पर अपने मन में स्त्री, पुत्रादि तथा गाय आदि प्राणियों को स्थान दूँगा।

यह वेद-वाक्य में हमारा कर्त्तव्य बताते हैं। साथ ही यह भी प्रेरणा देते हैं कि हम अपने मन को परिवारीजनों के प्रेम में तथा अन्यान्य प्राणियों के हित-साधन में लगावें। केवल स्वार्थ की बातें ही न सोचें।

वही कार्य करें जिसमें विश्व का कल्याण निहित हो, जिसमें समष्टि का हित-साधन हो सके।

परन्तु मन से कोई काम लेना है तो उसे स्थिर करना होगा। मन की स्थिरता के बिना सफलता सम्भव नहीं और मन को चंचलता से रोकना भी कोई खिलवाड़ नहीं है। गीता में भगवान् से अर्जुन इसी विषय में पूछता है—

चंचलं हि मनः कृष्ण प्रमाथी बलवत् दृढम्।
यस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥

अर्थात्—हे कृष्ण ! यह मन तो बहुत चंचल, बलवान्, दृढ़ और मत्त है, इस वश में करना तो उसी प्रकार बहुत कठिन है, जैसे वायु को वश में करने का प्रयास। अभिप्राय यह है कि इसे वश में करने का कोई सरल उपाय नहीं है।

और भगवान् ने इसका जो उत्तर दिया, वही इस प्रश्न का यथार्थ उत्तर हो सकता है। वे कहते हैं—

असशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥

अर्थात्—हे महाबाहो ! हे कुन्तीपुत्र ! मन तो निःसन्देह ही चंचल और कठिनाई से वश में होने वाला है। किन्तु अभ्यास और वैराग्य के द्वारा वश में होजाता है।

ऐसा कौन-सा कार्य है जो नहीं किया जा सकता ? होना चाहिए दृढ़ निश्चय। यदि दृढ़ निश्चय नहीं तो सन्देह की स्थिति बनी रह सकती है। उस स्थिति से उबरने के लिये चित्त में वैराग्य का होना प्रथम आवश्यकता और अभ्यास दूसरी आवश्यकता है।

वैराग्य अभिप्राय यह नहीं कि कोई मूँड़-मुड़ाकर संन्यासी बने और घर से निकल जाय। यदि मन में विषयों के प्रति आसक्ति रही तो

घर से निकलना भी व्यर्थ है। क्योंकि जहाँ आसक्ति है वहाँ वैराग्य या संन्यास का तो कुछ प्रश्न ही नहीं है।

वैराग्य का मुख्य अभिप्राय विषयों के प्रति अनासक्ति है। जब तक मन विषयों की ओर दौड़ता रहेगा, तब तक उसे रोका ही कैसे जा सकेगा ? भगवान् कृष्ण ही मन को वश में करने का उपाय बताते हुए कहते है—

असक्तिरनभिष्वंग: पुत्रदारगृहादिषु।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ।।

अर्थात्—पुत्र, स्त्री तथा घर आदि में आसक्ति का न रहना और ममता का भी मिट जाना तथा प्रिय और अप्रिय की प्राप्ति में सदा समान चित्त रहना (यह सब विवेक है)।

इस प्रकार मोह, ममता, अहंकार, काम, क्रोध, लोभ, ईर्ष्या, द्वेष आदि का त्याग कर देना ही अनासक्ति है। घर में रहें या न रहें, इससे कोई मतलब नहीं। आसक्ति का त्याग तो घर में रह कर भी हो सकता है। स्त्री, पुत्र, दास, दासी, वैभव तथा विभिन्न भौतिक सुखों में बुद्धि न रखना ही वैराग्य का लक्षण है। उसी को संन्यास कह सकते है।

जब मन विषयों से विमुख हो जाय तब उससे आगे बढ़ना चाहिए। अर्थात् मन को संयत करने के पश्चात् उसे अन्तर्मुखी करने का अभ्यास किया जाय।

हम यह नहीं कहना चाहते कि मन को बल पूर्वक विषयों से हटाया जाय। वरन् हमारे विचार में उसे धीरे-धीरे विषयों से विरक्त करके अनासक्ति की ओर मोड़ा जाय। इसके लिए मन के दमन में ही एक दम नहीं लग जाना चाहिए। जो कार्य धीरे-धीरे क्रम पूर्वक किया जाता है, उसमें अवश्य सफलता मिल सकती है।

किसी कार्य को धीरे-धीरे किया जाना ही अभ्यास कहलाता है। एक क्रिया की बार-बार आवृत्ति करना भी अभ्यास ही है। अभ्यास के

द्वारा सम्बन्धित क्रिया सबल होती जाती है। इसलिए योग ग्रन्थों में भी अभ्यास पर ही अधिक बल दिया जाता है।

मन को विषयों से विमुख करते हुए यह भी ध्यान रहना चाहिए कि उससे साधक को किसी प्रकार कष्ट न हो। यदि कष्ट का अनुभव होगा तो मन में प्रसन्नता के स्थान पर विषाद की स्थिति उत्पन्न हो जायगी और जहाँ विषाद उत्पन्न हुआ वहाँ शान्ति भी नहीं हो सकती। इन तथ्यों को दृष्टिगत रखते हुए ही गीता में भगवान् स्वयं ही निर्देश देते हुए कहते हैं—

मनः प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्म विनिग्रहः।
भाव संशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते॥

अर्थात्—मन की प्रसन्नता, शान्तभाव, मौन (प्रभु-चिन्तन का स्वभाव) मनोनिग्रह तथा अन्तःकरण की पवित्रता, ऐसे यह (सब मिल कर) मन से सम्बन्धित तप कहा जाता है।

इस प्रकार मन को वश में करना है तो उसका दमन करने से अभीष्ट पूर्ति नहीं होगी, वरन् मन को वश में करने के लिये उसकी गति में स्वाभाविक रूप से मोड़ देना चाहिए। समस्त कार्यों की सिद्धि में मन की प्रसन्नता बड़ी सहायक है। उसी से शान्ति मिल सकती है।

———

मन को प्रसन्न और शान्त रखने के उपाय

मन को प्रसन्न रखने का प्रथम उपाय तो शरीर को स्वस्थ रखना है। यदि शरीर अस्वस्थ रहेगा तो मन भी अस्वस्थ हो जायगा। स्वास्थ्य का और मन का बड़ा गहरा सम्बन्ध है। इतना गहरा कि तन स्वस्थ तो ही मन स्वस्थ, अन्यथा विषाद भर जाता है उसमें। विषाद की अवतर अवस्था अवसाद है। वह स्थिति और भी गई बीती हो जाती है। उससे बचने के लिये विद्वानों ने खान-पान के सुधार की भी बात कही है। जो लोग खान-पान पर ध्यान देते हैं, वे शरीर में शक्ति, स्फूर्ति तथा साहस आदि बनाये रख सकते हैं। भगवान् स्वयं इस तथ्य पर प्रकाश डालते हुए गीता में कहते हैं—

बुद्ध्या विशुद्धयायुक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च॥

अर्थात्—विशुद्ध बुद्धि से युक्त सात्विक धातणा से मन को नियमित करता हुआ शब्दादि पंचेन्द्रियों के विषयों को तथा राग द्वेष आदि को नष्ट करे।

बुद्धि शुद्ध और स्थिर होनी चाहिये। बुद्धि में विपर्यय रहने पर निश्चय नहीं हो पाता, जिससे मन भी चंचल बना रहता है। जो कुछ करें, उस पर पहिले भले प्रकार विचार कर लें और फिर जो निश्चय करें उस पर दृढ़ रहें यही स्थिर बुद्धि है। कभी कुछ यह अनिश्चय की बुद्धि अशुद्ध ही होती है। उसके द्वारा मनुष्य को बड़ी हानि उठानी पड़ती है।

उस बुद्धि को धारणात्मक बनाने का प्रयत्न किया जाय। धारणा के यद्यपि अनेक अर्थ हैं, किन्तु जहाँ बुद्धि की शुद्धता के साथ उसका प्रयोग हो उसके लिये आवश्यक है कि विचारधारा सात्विक हो। राजसिक या तामसिक विचारों के रहते हुए बुद्धि स्थिर या शुद्ध नहीं हो पाती।

जब बुद्धि को शुद्ध और स्थिर कर लिया जाता है तब मन भी नियमित होने लगता है। यदि मन नियमित होने लगे, उसमें स्थिरता आजाय तब बहुत-सी बाधाएँ स्वतः दूर हो जाती है। क्योंकि बाधाएँ प्रायः मन की चंचलता के कारण ही अधिक उपस्थित होती हैं।

इन्द्रियों और उनके विषयों में अनासक्त रहें

पाँच इन्द्रियाँ हैं—श्रोत, नेत्र, जिह्वा, नासिका और त्वचा। इनके पाँच ही विषय हैं, क्रमशः शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श। संसार भर की समस्त कामनायें इन्हीं विषयों में समाविष्ट हैं। यदि इनके व्यवहार में संयम से काम लिया जाय तो आध्यात्मिक पक्ष में अभीष्ट की पूर्ति सहज सम्भव है।

कोई कहे कि विभिन्न प्रकार के शब्द होते ही रहते हैं, उनका त्याग कैसे किया जाय? क्या उन्हें सुना न जाय, कानों पर हाथ रख लिया

जाय ? सामने दृश्य है—आँख खुली हैं तो वे देखेंगी ही क्या उन्हें हर समय बन्द रखा जाय ? इसी प्रकार अन्य विषयों की स्थिति है। इन्द्रियाँ हैं तो उनका सम्पर्क अपने-अपने विषयों से होगा ही, तब उनका त्याग कैसे किया जा सकता है ?

शंका स्वाभाविक है—इन्द्रियाँ हैं तो विषयों से उनका सम्पर्क कैसे रोका जा सकता है ? परन्तु विषयों का त्याग कहने से अभिप्राय यह नहीं है कि कानों में अँगुली ठूँस लें या आँखो को बन्द कर लें, नाक नाक में कपड़ा लगालें, भोजन ग्रहण न करें या त्वचा पर कोई ऐसा लोह-आवरण चढ़ा लें, जिससे स्पर्श का अनुभव ही न हो। विषयों के त्याग का सीधा-साधा अर्थ है विषयों को भोगते हुए भी उनमें आसक्ति न रखना। गाँधीजी ने तीन सिद्धान्त बनाये थे - बुरा मत सुनो, बुरा मत देखो। अर्थात् बुरी बातों को सुनने से बचो, जहाँ का वातावरण दूषित हो, अश्लील या गन्दी बातें होती हों, वहाँ जाना ही नहीं चहिए। यदि जाना अनिवार्य ही हो तो प्रयत्न यह किया जाय कि वे बातें सुनने में न आवें।

इसी प्रकार हम मुख से जो कुछ कहें वह अनुपयोगी न हों। हमारे मुख से गाली-गलौज की या अश्लील भाषा का प्रयोग कभी नहीं होना चाहिए। जिन बातों से समाज का, देश का या विभिन्न प्राणियों का हित-साधन होता हों, उन्हीं का कहना उचित है। जिन बातों में स्वार्थ-भावना निहित हो, जिन बातों से आसक्ति बढ़ती हो उन्हें न कहना ही श्रेयस्कर है।

अश्लील, गन्दे, अनाचार पूर्ण दृश्यों को नहीं देखना चाहिए। यदि किसी स्थान पर ऐसा कुछ हो तो हमें वहाँ से हट जाना चाहिए। यदि वैसे दृश्य देखे जाते है तो मन पर बुरा प्रभाव पड़ता है। इसीलिए गाँधीजी ने बुरा न देखने की बात सूत्र रूप में कही है।

गन्ध विषय के त्याग का अभिप्राय उस प्रकार की गन्ध न सूँघने से है, जिसके कारण उत्तेजना बढ़ सकती हो। स्वच्छ वातावरण में रहते हुए ही स्वाभाविक रूप से जैसी गन्ध चल रही हो, वह तो घ्राणेन्द्रिय में पहुँचेगी ही, उसके त्याग की कोई बात नहीं है।

इसी प्रकार स्पर्श के विषय में है। कामुकता पूर्ण स्पर्श से बचना आवश्यक है। जिस प्रकार के स्पर्श से मन में कोई विकार उत्पन्न होता हो, उसके त्याग से ही स्पर्श विषय का त्याग स्वतः सिद्ध हो जाता है।

विषयों के त्याग का यही अभिप्राय है। शरीर के लिये जो कुछ आवश्यक है, वह अवश्य किया जाना चाहिए। भोजन वस्त्र भी जितना जीवन निर्वाह के लिये अपेक्षित हो, प्रयोग में लाया जाय। उसमें स्वाद और फैशन आदि का विचार न किया जाय। जैसा मिल जाय वैसा ही खा पहिन लें।

भगवान् ने राग-द्वेष को नष्ट करने का आदेश दिया है। राग का अभिप्राय प्रीति से है। किसी के प्रति स्वार्थ भावना युक्त प्रीति नहीं रखनी चाहिये। किसी एक को मित्र बनाकर दूसरे से द्वेष करना अनुपयुक्त ही है। वस्तुतः न किसी में अधिक मित्र भाव रहे, न शत्रु भाव ही। अभिप्राय यह है कि मित्र और शत्रु दोनों में समान भाव रखे। मित्र का भी अन्याय पूर्ण पक्ष न ले और शत्रु का भी अहित चिन्तन न करे। इसी प्रकार की भावना से राग-द्वेष का नाश हो सकता है।

मनुष्य के मन पर देश-काल का भी बड़ा प्रभाव पड़ता है। अच्छे स्थान में रहने से मन प्रसन्न और शुभ संकल्प वाला रहता है। समय भी कम महत्वपूर्ण नहीं। जीवनचर्या से सम्बन्धित सभी कार्य समय पर करने चाहिये। जो भी आचरण किया जाय, समय के अनुकूल हो।

वाणी आदि की शुद्धता तथा विषयों के प्रति सदैव वैराग्य का निर्देश करते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं—

विविक्तसेवी लघ्वासी यतवाक्काय मानस. ।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्य समुपाश्रितः ॥

अर्थात्—एकान्त और शुद्ध देश के सेवन करने वाले मिताहारी, जीते हुए मन, वाणी और शरीर से युक्त तथा वैराग्य को भले प्रकार प्राप्त और ध्यानयोग परायण रहना चाहिये।

स्थान का एकान्त होना अधिक हितकर हैं, भीड़ भाड़ में न तो चित्त स्थिर रहता है और न साधना ही बन सकती है। यह आवश्यक नहीं कि किसी वन में जाकर ही उपासना की जाय, घर में भी एकान्त स्थान चुन सकते हैं।

यह भी ध्यान रखा जाय कि स्थान शुद्ध रहे। उसकी ठीक प्रकार सफाई होती रहे, कूड़ा-करकट, मैल आदि न रहे। नित्य प्रति झाड़ें-बुहारें और धो-पोंछकर साफ करें। उसमें सुगन्धित धूप जलावें, जिससे कि वातावरण भी पवित्र हो जाय।

जिस स्थान में रहकर साधना करनी हो, वह खुला हवादार हो, सूर्य की किरणें भी उसमें प्रवेश करती हों। अच्छा हो कि उसमें पूर्व की ओर भी खिड़की आदि हों, जिनसे होकर प्रातःकाल के समय धूप आ सके। प्रातःकालीन धूप में अल्ट्रावाइलेट किरणें रहती हैं, जिनमें रोग और विष को दूर करने की शक्ति होती है। इसीलिए प्रातःकालीन उपासना में पूर्व की ओर मुख करके बैठने का विधान है।

लघ्वाशी का अर्थ मिताहारी है। मिताहारी वह है जो हल्का और अल्प आहार करने वाला हो। गरिष्ठ आहार पेट को खराब कर देता है, क्योंकि वह शीघ्र ही पच नहीं पाता। उससे रस कम मात्रा में प्राप्त होता है तथा उसे पचाने के लिए पाचन यन्त्र को अधिक क्रियाशील होना होता है।

इसी प्रकार अधिक मात्रा में भोजन करना भी हानिकारक है। कुछ लोग समझते हैं कि कम मात्रा में भोजन करने से शरीर दुर्बल हो

जाता है, किन्तु उनकी ऐसी मान्यता भ्रम पूर्ण ही है। अधिक मात्रा में किया हुआ भोजन भी पाचन-यन्त्र तथा आँतों को अधिक परिश्रम करने के लिए विवश करता है, जिससे पेट के अनेक रोग हो सकते हैं और कब्ज तो प्रायः बना ही रहता है। किन्तु कम मात्रा में भोजन करने से इस प्रकार की परेशानियों से बचा जा सकता है।

जब पेट खराब रहता है तब मन भी विषाद ग्रस्त बना रहता है। उसके कारण किसी भी कार्य के करने की इच्छा नहीं हो पाती। फिर साधना में तो मन लगेगा ही कैसे ?

काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहंकार से अशान्ति की जाग्रति

मन-वाणी का संयम बहुत आवश्यक है। साधना में उस संयम की अनिवार्यता समझी जाती है। विषयों से वैराग्य भाव होने पर ही मन में शान्ति उत्पन्न हो सकती है। और तभी ध्यान के अभ्यास में तत्परता आ सकती है।

मन को शान्त-संयत बनाने के लिए यह भी आवश्यक है कि अहंभाव का त्याग किया जाय। जब तक अहंभाव रहेगा, चित्त की चंचलता दूर नहीं हो सकती। इसीलिए भगवान् ने इसके त्याग का निर्देश दिया है—

अहंकार वलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्मम: शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥

अर्थात्—अहङ्कार, बल, घमण्ड, काम, क्रोध तथा संग्रह को त्याग कर ममता-रहित और शान्त अन्त:करण से परब्रह्म परमात्मा में एकी-भाव की स्थापना के योग्य होता है।

अहंकार क्या है ? 'मैं हूँ' ऐसा मिथ्याभिमान। समस्त पाप-दोषों की जड़ यही है। इसी के कारण शरीर के प्रति आसक्ति बढ़ती है और मन विषयों की ओर दौड़ता है। अपने प्रति मोह और पराये के प्रति द्वेष भाव का कारण भी अहङ्कार ही है। अहङ्कारी मनुष्य अपने समान किसी को नहीं समझता। वह मानता है कि में ही सब में श्रेष्ठ हूँ अन्य सब तो तुच्छ ही हैं।

इसी प्रकार शारीरिक वल का विश्वास, कि मैं वहुत शक्तिशाली हूँ, मेरे बराबर बलवान कोई नहीं, अनेक प्रकार से विग्रह में कारण होता है। अपने को अधिक बलवान समझने वाला मनुष्य चाहे जिससे लड़ने-झगड़ने को उतारू हो जाता है। उसमें सहन शक्ति नहीं होती। किसी ने भी कोई ऐसी बात कह दी, जो अपने को अच्छी न लगी तो तुरन्त रुष्ट हो गये। यह सब शारीरिक बल के मिथ्याभिमान का ही प्रभाव है। इसी प्रकार के अभिमान के कारण संसार में बड़े-बड़े युद्ध तक हो जाते हैं।

अहङ्कार तथा बल के मिथ्याभिमान का ही भाई-बन्धु घमण्ड है। यह मनुष्य की अवनति का एक मुख्य कारण होता है। ऐसा मनुष्य दूसरों को सब प्रकार से तुच्छ समझता और मनमाने कार्य करता है। उसे न्याय या अन्याय की कोई परवाह नहीं होती। स्वयं अन्याय करे तो भी न्याय है और दूसरा न्याय पूर्ण व्यवहार करे तो भी वह उसे अन्याय ही समझता है।

ऐसे मनुष्यों में कामाशक्ति भी प्रबल रूप से रह सकती है। कामाशक्ति मनुष्य की बुद्धि का ही हरण कर लेती है। इसीलिये कुछ विद्वानों ने अत्यन्त बढ़ी हुई कामासक्ति को कामोन्माद का नाम दिया है। क्योंकि कामासक्त मनुष्य समय-असमय, भोग्या-अभोग्या आदि का भी विचार नहीं करता। उसके मन में केवल काम:भावना ही भरी रहती है। दिन रात्रि स्त्री का चिन्तन करते रहने के कारण वह किसी भी क्षेत्र में अपनी उन्नति के विषय में कुछ नहीं सोच सकता। इस प्रकार काम-विचार आत्म-लाभ के पक्ष में तो पूर्णरूपेण विपरीत ही है।

क्रोध भी कम हानिकारक नहीं है। जिस समय यह उत्पन्न होता है, मनुष्य की बुद्धि को नष्ट कर देता है। समझ लो कि क्रोध आया और बुद्धि भागी। क्रोध प्रबल होता है, जब कि बुद्धि दुर्बल होती है, इसलिये भागेगी ही सबल के सामने से।

क्रोध की प्रबलता बताते हुये भगवान् ने ही दो तथ्य कहे हैं—(१) 'कामोत्क्रोधोऽभिजायते' अर्थात् 'काम से क्रोध की उत्पत्ति होती है।' और (२) 'क्रोधाद्भवति संमोहः' अर्थात् 'क्रोध से संमोह (अविवेक या मूढ़ भाव) उत्पन्न होता है।

तो प्रथम सभी बुराइयों की जड़ रही कामासक्ति। उसीके द्वारा उत्पन्न हुआ क्रोध और क्रोध से उत्पन्न हो गया मूढ़ भाव। विवेक चला गया उस क्रोध से। क्रोध ने विवेक का हरण कर लिया। इसी को बुद्धि का भ्रष्ट होना कहते हैं।

और फिर 'काम एष क्रोध एष रजोगुण समुद्भवः' अर्थात् 'यह काम और यह क्रोध दोनों ही रजोगुण से उत्पन्न होते हैं, अथवा रजोगुण से उत्पन्न यह काम ही क्रोध है। इस प्रकार काम और क्रोध में कोई भिन्नता नहीं। काम भावना समस्त विग्रहों की मूल है, यह क्रोध

को उत्पन्न करके लड़ाई-झगड़े और हिंसा का वातावरण उत्पन्न कर देती हैं।

सतोगुण सर्वश्रेष्ठ गुण है। आध्यात्मिक क्षेत्र में इसी गुण का महत्व अधिक है। सतोगुणी प्रवृत्ति वाले मनुष्य में काम, क्रोधादि की उत्ते-जनाओं का अभाव रहता है। यदि वह काम-सेवन करता भी है तो केवल सन्तान-धर्म की अपेक्षा से ही उसमें आसक्ति नहीं होती।

रजोगुण उससे गिरा हुआ गुण है, क्योंकि इसमें कामासक्ति रहती है, क्रोध की विद्यमानता रहती है। फिर भी रजोगुणी प्रवृत्ति का मनुष्य अपने को संयमित करने का प्रयत्न करे तो सतोगुण से सम्पन्न हो सकता है। किन्तु यदि वह वैसा न करे तो उसमें वासनाएँ बढ़ती रहेंगी और वह शीघ्रता से तमोगुणी प्रवृत्ति की ओर बढ़ने लगता है। बस, वही तमोगुणी प्रवृत्ति उसके पतन का कारण बन जाती है। क्योंकि उसके चित्त में स्वच्छता का अभाव हो जाता है।

मनुष्यों में संचय की प्रवृत्ति भी देखने में आती है। संचय में स्वार्थ भावना का समावेश रहता है। वह केवल अपने ही हित की बात सोचता है। जमाखोरी की प्रवृत्ति का कारण मुख्यतः लोभ है। इसी के कारण मुनाफाखोरी, चोरबाजारी आदि का विकट रूप देखा जाता है, और मूल्य वृद्धि होने लगती है। बेचारे सामान्य वित्त व्यवस्था वालों के लिये जीवनोपयोगी वस्तुओं से भी वंचित रहना होता है। देश में भुखमरी आदि का मूल कारण भी परिग्रह की प्रवृत्ति ही है।

इसी प्रवृत्ति के फलस्वरूप धनवान अधिक धन सम्पन्न होने लगता है। अल्प धन वाला ओर भी गरीब हो जाता है। समाज में असामंजस्य की स्थिति उत्पन्न करने में यह प्रवृत्ति अत्यधिक जिम्मेदार है।

ममता भी एक दुर्गुण है। अपना प्रियजन कैसा भी हो, बुरे आचरण का या अच्छे आचरण का, ममता वाला मनुष्य इस पर ध्यान नहीं देता। अनेक परिवारों में देखा गया है कि पिता-माता की ममता इतनी प्रबल होती है कि सन्तान उनका कैसा ही अपमान क्यों न करले, वे उसे छोड़ नहीं पाते और उसकी ममता में फँसे रहकर दुःख उठाते हैं। इसीलिये ज्ञानी पुरुषों ने ममता को भी एक सुदृढ़ बन्धन माना है। वस्तुतः ममता वाला मनुष्य आवागमन के बन्धन से कभी छूट नहीं पाता।

अतएव यह आवश्यक है कि अपना शुभ चाहने वाला मनुष्य ममता को त्याग कर, काम-क्रोधादि से विमुक्त होकर अपने श्रेयन्साधन की बात सोचे।

मन को सभी बातों से हटाकर, सब प्रकार के द्वन्द्वों से मुक्त होकर शान्ति पूर्वक भगवान् का ध्यान करे। उससे संसार में जन्म-मरण के सुदृढ़ बन्धन कट जाते और परमात्मा की प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त हो जाता है। इसलिये मन को पूर्ण रूपेण शान्त, विकार-रहित बनाने का प्रयत्न करना चाहिए। एकाग्र किया हुआ, सुस्थिर मन ब्रह्म की प्राप्ति में पूर्ण रूपेण सहायक सिद्ध होता है।

भय रहित जीवन ही शान्ति का साधन है

यह सब क्यों करना चाहिए ? ब्रह्म प्राप्ति के लिए विद्वानों ने अन्य अनेक उपाय कहे हैं, उनका आचरण क्या दोष पूर्ण है ? ऐसी शङ्काएँ भी सामने आती हैं। किन्तु उन सभी पर विचार करके निष्कर्ष निकालें तो स्पष्ट रूप से समझ में आ जायगा कि किसी भी विधि का पालन कीजिये, काम-क्रोधादि का त्याग तो सभी में आवश्यक है। जप, तप, योग, यज्ञ, पूजा, उपासना, वैराग्य, संन्यास आदि सभी में अपेक्षित सफलता तभी मिल सकती है, जब काम-क्रोधादि मानसिक विकारों को हटाकर मन को शान्त बना लिया जाय। गीता में ही अर्जुन के प्रति भगवान् कहते हैं—

> प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितिः।
> मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः॥

अर्थात्—भले प्रकार शान्त चित्त हुआ साधक ब्रह्मचर्य व्रत में स्थित रहकर, सावधान तथा भय-रहित रूप से मन को संयत रखता हुआ, मुझ में ही चित्त लगाये हुए रहे तथा मेरे ही परायण हुआ स्थित हो।

इस निर्देश में भी दो विशेष बातों का उल्लेख हुआ है—(१) 'ब्रह्मचारिव्रते स्थितः' अर्थात् ब्रह्मचर्य व्रत में स्थित रहता हुआ, और (२) 'विगत भीः' अर्थात् 'भय-रहित रूप से।' दोनों ही निर्देश प्रभु-प्राप्ति के उद्देश्य से महत्वपूर्ण हैं।

ब्रह्मचर्य व्रत में स्थिति का अभिप्राय कामुक प्रवृत्ति के नियन्त्रण से है। बहुत-से व्यक्ति काम-सम्भोग का अवसर न पाते हुए भी, काम-चिन्तन में लगे रहते है, इससे उनका मन उन्हीं विचारों में रमा रहने के कारण दोष पूर्ण रहता है। इसके भलस्वरूप कुछ लोग स्वप्नदोष के, कुछ शीघ्र पतन के, कुछ प्रमेह या मधुमेह के तथा कुछ क्लैव्य के भी शिकार हो जाते हैं। इससे शुक्रादि धातुओं के अनावश्यक व्यय के कारण मनुष्य रोग-ग्रस्त भी हो जाता है।कुजों को तो ऐसे रोगों के उपसर्ग रूप मे अन्य भयंकर रोगों से आक्रान्त होना पड़ता है। इस प्रकार चाहे प्रत्यक्ष संसर्ग से शुक्र नष्ट हो अथवा अप्रत्यक्ष संसर्ग से, है यह ब्रह्मचर्य व्रत का नष्ट होना ही। और शारीरिक तथा मानसिक दोनों प्रकार से स्वास्थ्य नाश का कारण होने से शुक्र नाश को त्याज्य माना गया है।

जो गृहस्थ अपने धर्म का पालन करते हुए केवल सन्तान की इच्छा से संसर्ग करते हैं, उनका वह संसर्ग ब्रह्मचर्य-नाश की परिधि में प्रायः नहीं आता। यदि आता भी हो तो आशिक रूप से। इसीलिये गृहस्था-श्रम में रहकर, उसका धर्म पालन करते हुए भी मनुष्य विभिन्न काम-नाओं को छोड़कर प्रभु प्राप्ति के प्रयत्न में सफलता पूर्वक लगा रह सकता है।

भगवान् ने भय-रहित रूप से उपासना करने का निर्देश दिया है। मन में जब तक भय रहेगा, साधना में मन नहीं लग सकता। इसलिये सभी प्रकार के भयों का त्याग अपेक्षित है।

संसार में भय अनेक प्रकार के हैं—आजीविका नाश-भय, शत्रु-भय, राज-भय, कीर्तिनाश-भय आदि। संसार क्षेत्र कर्म क्षेत्र हैं, इसमें रहते हुए सभी प्रकार के देह हित वाले कर्म करने होते हैं। यदि आजीविका नष्ट होने का भय हो तो परिश्रम के द्वारा धनोपार्जन का उपाय करना

चाहिये। दत्तचित्त से प्रयत्न करने पर जीवन यात्रा चलाने और गृहस्थ पालन करने के योग्य धन का उपार्जन करना कुछ कठिन नहीं होगा।

शत्रु-भय का निवारण भी अधिक कठिन नहीं। अन्याय अनीति में मन न रखकर सबके प्रति प्रेम भाव रखना इसके लिए आवश्यक है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहङ्कार, ईर्ष्या, द्वेष, रागादि के त्याग का निर्देश इसी तथ्य को दृष्टिगत रखते हुए किया गया है। यदि इस नियम का पालन किया जाय तो किसी से शत्रुता का अवसर ही कम उपस्थित हो।

राज-भय भी उन्हीं को रहता है जो काम, क्रोधादि के चक्र में फँसे रहकर बुरे काम करते हैं। जो कारण शत्रु भय के हो सकते हैं, वे राज भय के भी हो सकते हैं। क्रोधादि के कारण हिंसा, चौर्य कर्म, छल-कपट, डकैती, चोरबाजारी, मुनाफाखोरी, व्यभिचार, बलात्कार, अनाचार आदि कर्मों के फलस्वरूप राजदण्ड का भय स्वाभाविक है। जो लोग शान्त स्वभाव के होते हैं। वे शत्रु-भय और राज-भय दोनों से बचे रह सकते हैं।

कीर्ति की आकांक्षा भी स्वाभाविक है। परन्तु कोई भी बुरा काम कीर्ति-नाश में कारण हो सकता है। इसलिये आवश्यकता इस बात की है कि ऐसा कोई कार्य न किया जाय, जो दूसरों की दृष्टि में निन्दनीय समझा जाय। यदि हम किसी कार्य को ठीक भी समझते हो, किन्तु दूसरों की दृष्टि में वह उचित न ठहरे तो हमें उस कार्य को करना ही नहीं चाहिये।

अच्छा तो यह है कि हम प्रायः ऐसे कार्य करते रहें, जिनसे दूसरों का हित-साधन होता हो। दूसरों के दुःख में, संकट-विपत्ति के समय उनके प्रति सहानुभूति और सहायता का दृष्टिकोण अपनाना चाहिए।

यदि हम ऐसा करें तो कीर्ति नष्ट होने की अपेक्षा और अधिक बढ़ेगी ही।

एक बात और भी कही गई है उक्त श्लोक में कि मन को संयम में रखते हुए मुझ (परमात्मा) में चित्त लगावे। मन को संयम में रखने से सभी कुछ संयमित हो जाता है। क्योंकि असंयम का कारण एक मात्र मन ही है। मन इधर-उधर छलांग लगाता रहेगा तो परमात्मा की ओर किस प्रकार जायगा ? किस प्रकार भगवत्परायण होगा वह मन जो सांसारिक विषयों में भटकता फिर रहा है ?

मन भटकेगा तो सुख नहीं मिलेगा, क्योंकि जिधर वह भटकता है वहाँ दुःख ही दुःख है। भौतिक सुख भी तो प्राप्त नहीं हो पाता उस स्थिति में तो पारमार्थिक सुख तो मिलेगा ही कैसे ? एक विद्वान् सन्त का मत है कि 'जिस सुख में दुःख निहित हो, वह भौतिक सुख श्रेय सम्पादन में सहायक नहीं हो सकता। उससे भिन्न जो पारमार्थिक सुख है, वही प्राणियों के लिये कल्याणकारी है, उसे हम आनन्द कह सकते हैं। आनन्द का अभिप्राय स्थायी सुख से है, जिसकी प्राप्ति बहुत कठिन है।'

विषयानन्द से दिव्यानन्द की ओर

महान् सन्त स्वामी रामकृष्ण परमहंस के मत में आनन्द के तीन प्रकार हैं·—(१) विषयानन्द' (२) भजनानन्द, और (३) ब्रह्मानन्द। कामिनी-कांचन के जिस आनन्द में मनुष्य सदैव लिप्त रहते हैं, वह विषयानन्द है। ईश्वर के नाम तथा गुणों का गान करने से जिस आनन्द की प्राप्ति हो, उसका नाम भजनानन्द है तथा जो आनन्द परमात्मा के दर्शन से प्राप्त हो उसे ब्रह्मानन्द कहते हैं ऋषिगण ब्रह्मानन्द को प्राप्त करके ही स्वेच्छा पूर्वक विहार करने वाले बन जाते हैं।

विषयानन्द वस्तुतः आनन्द नहीं है। भौतिक सुख क्षणिक होते हैं, उनके समाप्त होने पर दुःख ही दु-ख शेष रहता है। इसलिए उसे चाहे सुख भले ही कह लें, इसलिए आनन्द नहीं कह सकते। स्वामीजी ने सम्भवतः इसीलिए विषियानन्द कह कर उसके स्वरूप का भी वर्णन कर दिया है।

जिन लोगों ने विषय के स्वरूप को समझ लिया, उन्हें उसमें निहित दुःखों का भी भान होगा ही। विषयानन्द में अनेक कष्ट है—आर्थिक चिन्ता, रोग, मर्यादा-नाश, अपयश आदि। इसलिए यदि इसे आनन्द मान भी लें तो वह निकृष्ट प्रकार का ही होगा। क्योंकि जो कार्य आत्म-हित के प्रतिकूल सिद्ध होता हो, वह कभी श्रेयष्कर नहीं हो सकता। इसलिए सुख-शान्ति चाहने वालों के लिए इस प्रकार के आनन्द को त्याज्य ही समझना चाहिये।

दूसरी प्रकार का आनन्द है भजनानन्द। यह विषयानन्द की अपेक्षा बहुत श्रेष्ठ है। इसमें किसी प्रकार का दुःख निहित नहीं है,

इसलिये हम इसे सुख भी कह सकते हैं। भगवान् का नाम जप, संकीर्तन उनके गुणों का गान आदि कार्य आत्मबोध में भी सहायक सिद्ध हो सकते हैं। इसलिये यह साधारण मनुष्यों के लिये भी उपयोगी है और बिशिष्ट जनों के लिये भी।

अपरिपक्व मनोभूमि वालों के लिये नाम-जप आदि से बहुत लाभ होता है। उसका चित्त विषयों से हटने लगता है। आचरण में सुधार को स्थिति उत्पन्न हो जाती है। धीरे-धीरे उन्हें इसमें बहुत सुख का अनुभव होने लगता है। इसीलिए इसे मध्यम श्रेणी का आनन्द तो मान ही सकते हैं।

भजनानन्द हमारी मानसिक प्रगति में बहुत सहायक सिद्ध हो सकता है। यदि हम भगवान् के गुण-गान में या नाम-संकीर्तन में तन्मय होजांय तो उसके फल स्वरूप ध्यानावस्था उत्पन्न हो सकती है। हमने देखा है कि बहुत-से हरे राम हरे कृष्ण' आदि का संकीर्तन करने वाले साधु-सन्त उसमें इतने तल्लीन हो जाते हैं कि उन्हें अपने शरीर का भी होश नहीं रहता और उनकी अवस्था समाधि जैसी होजाती है।

भजनानन्द से ही ब्रह्मानन्द पर पहुँचा जा सकता है। ब्रह्मानन्द सब से ऊँची श्रेणी के आनन्द का नाम है। इस तक जो पहुँच गया वह इसी जीवन में सफल हो गया। योगियों ने जिसे जीवन्मुक्त या विदेह-अवस्था कही है, वह अवस्था वस्तुतः यह ब्रह्मानन्द की स्थिति ही है। इस अवस्था में साधक को आत्मा या परमात्मा का साक्षात् बोध होजाता है और फिर अन्य कुछ जानने योग्य रहता भी नहीं। स्वामीजी ने इसीलिए ब्रह्मानन्द को सर्वोच्च स्थिति माना है।

विषयानन्द की लालसा हो तो उसे मन में मत रहने दो। उसे भोगो, किन्तु उसकी अच्छाई-बुराई पर विचार अवश्य करते रहो। उसमें मन को डुबाओ मत, नहीं तो तुम समूचे ही डूब जाओगे। मन

को जगाये रखो और विवेक से काम लो, उसमें क्या कठिनाई उपस्थित हुई और कितना आनन्द मिला। केवल इतना निरीक्षण मात्र करते रहो। बस, इसी से तुम्हारा मन उसकी भलाई-बुराई को जानने लगेगा और बुराई को छोड़ता हुआ भलाई की ओर बढ़ेगा। वस्तुतः मन को संयमित करने में यह एक उचित दिशा होगी।

यदि रुचि हो तो विषयानन्द को भोगते हुए ही भजनानन्द की ओर चित्त लगाओ। भजनानन्द में लगने के कारण उसका धीरे-धीरे उत्थान होने लगेगा। उस स्थिति में वह बुराई से बहुत कुछ ऊँचा उठ जायगा और जब भजनानन्द में रमने लगेगा, तब तो उसकी स्थिति ही भिन्न होजायगी। आप देखेंगे कि आपका मन अब विषयों में रुचि नहीं लेता, उसे प्रभु-नाम-स्मरण और गुण-कीर्तन में ही आनन्द आने लगा है। वह भूल चुका है विषयानन्द को।

जब मन विषयानन्द को त्याग देता हैं तो भजनानन्द में सुख की अनुभूति करता हुआ आगे बढ़ता है। उसमें भगवान् के दर्शन की लालसा अधिक तीव्र होजाती है तथा वह भजनानन्द की उच्च भूमिका में होता हुआ अन्त में ब्रह्मानन्द की अवस्था प्राप्त कर लेता है।

जब मनुष्य विषयों का भोग कर उनमें तृप्ति का अनुभव कर लेता है तब उसे भोगों से कुछ विरक्ति होने लगती है। फिर जब वह भजनानन्द का अनुभव करने लगता है तब विषयानन्द को भूलने लगता है है और जब ब्रह्मानन्द का अनुभव करता है तब विषयानन्द और भजनानन्द दोनों को ही भूल जाता है।

ब्रह्मानन्द ही दिव्यानन्द है। जब मनुष्य दिव्यता में प्रविष्ट होजाता है, तब भौतिकता से ऊपर उठ जाता है। भला जिसे किसी श्रेष्ठ मिठाई का चस्का पड़ गया वह गुड़ को क्यों पसन्द करे? जो राजमहल में रहने का आदी होगया वह झोंपड़ी में किस प्रकार रहे?

स्वर्ग की तीन सोपान ह । उन्हीं के वाद उसमें प्रविष्ट होने के लिये द्वार मिलता है । प्रथम सोपान विषयानन्द रूप है,गृहस्थाश्रम में मनुष्यों के लिए वही आधार भूत है । अविवेकी पुरुष उसी में आनन्द मान कर रम जाते हैं, वे उससे ऊपर चढ़ना ही नहीं जानते । जिसने गुड़ खाया उसे उसका स्वाद अच्छा लगा और जब तक मिश्री का स्वाद न चखा, तब तक वह क्या जाने कि मिश्री क्या होती है ?

विषयानन्द में भी आकर्षण है । वह मनुष्य को अपनी ओर खींचे रहता है । वह चढ़ने ही नहीं देता दूसरी सीढ़ी पर । किन्तु विवेकी पुरुष उस अन्तन्द को प्राप्त करते हुए भी उसमें लिप्त नही होते । वे लालायित रहते हैं तीसरी सीढ़ी तक पहुँचने के लिये, इसलिए दूसरी सीढ़ी पर चढ़ने का पूर्ण प्रयत्न करते हैं । कुछ लोग तो दूसरी सीढ़ी पर अधिक देर न लगा कर तीसरी सीढ़ी पर ही जाने का प्रयत्न करते हैं ।

दूसरी सीढ़ी भजनानन्द वाली हैं । ओंकार का भजन करा, जप, कीर्तन, ध्यानादि करो । इस सीढ़ी पर चढ़ा हुआ साधक तीसरी सीढ़ी पर चढ़ने के उद्‌श्य से अभ्यास के द्वारा अपनी मनोभूमि को परिपक्व बनांने का प्रयत्न करता है । यदि वह उस अभ्यास में निरन्तर लगा रहता है तों और आगे बढ़ने में किसी प्रकारकी कठिनाई नहीं होती ।

जप, कीर्तन, ध्यान आतमोत्थान के लिए किये जाने वाले उपायों में कुछ कम महत्वपूर्ण उपाय नहीं हैं । जप के अनुष्ठानों से सव प्रकार की कामनाएँ सिद्ध होती देखी गई हैं । अनुष्ठाता सदा ही अपने में उल्लास शक्ति और स्फूर्ति का अनुभव करता रहता है । ज्यों-ज्यों उसका अभ्यास बढ़ता जाता है, प्रणव में निहित शक्तियाँ बढ़ती जाती हैं । अनुष्ठान पूर्ण होने पर अभीष्ट पूर्ति में सन्देह नहीं रहता ।

बहुत-से साधक भौतिक सुखों की अभिलाषा रखते हैं । वे अपनी मनोवृत्ति के परिवर्तन में सफल न होने के कारण पारलौकिक लाभ पर

विचार करने में असमर्थ रहते हैं। ओंकार जप का अनुष्ठान उन्हें उस सुख की प्राप्ति भी करा देता है।

अनेक व्यक्ति सिद्धियों की कामना करते हैं। उनके विचार में सिद्धियाँ प्राप्त होने पर मनुष्य भौतिक और आध्यात्मिक दोनों ही प्रकार के सुख प्राप्त कर सकते हैं। उन साधकों के लिये भी ओंकार-साधना फलवती हो सकती है।

परन्तु मुमुक्षुजन न किसी भौतिक सुख को चाहते हैं, न सिद्धियों की ही अभिलाषा करते हैं। उन्हें तो पारलौकिक सुख चाहिए। वह सुख जो उन्हें मृत्यु के पश्चात् मिल सके। इस जीवन में सुख भोगा, किन्तु मरण के पश्चात् दुःख की प्राप्ति हुई तो मनुष्य जीवन ही व्यर्थ चला गया समझो।

इस प्रकार के विचार वाले मनुष्य भौमिक सुखों को निस्सार समझते हैं। वे शरीर को आत्मा से भिन्न मानकर उसे होने वाले कष्टों को भीं कष्ट नहीं मानते। वरन् उन कष्टों के भोग को ये अच्छा ही मानते हैं। उनके विचार में इस जीवन में प्राप्त होने वाले कष्टों को सहर्ष झेलना ही उचित है। क्योंकि उन कष्टों के भोगने से ही अशुभ कर्मों का क्षय होगा। कष्ट जितने ही अधिक भोगे जाँयगे, उतना ही अधिक भोगे जाँयगे, उतना ही अधिक पाप-कर्मों का विनाश होगा। इस प्रकार कष्टों को वरदान और सुयोग मान कर उनका स्वागत करना चाहिए। उनसे जितने दूर भागोगे उतने ही वे तुम्हारा पीछा करेंगे, तुम्हें पकड़ेंगे।

जब समझा जाता है कि कोई व्यक्ति तुम्हारी आँखें बचा कर भाग रहा है, और उसकी तुम्हें आवश्यकता है तो तुम उसे शीघ्र पकड़ने का प्रयत्न करोगे। पुलिस समझती है कि अपराधी फरार होने के प्रयत्न में है तो वह उसके बन्धन कड़े कर देती है। उसकी चौकसी भी बढ़ा दी

जाती है। किन्तु यदि यह समज लिया जाय कि अपराधी भागने वाला नहीं है तो उस पर न तो अधिक कड़ी निगरानी रहती है और न अधिक कड़ा बन्धन रहता है।

दुःखों को वरदान समझकर उनसे विचलित न हों।

यही स्थिति दुःखों की है। मनुष्य उनसे कम भागेगा तो वे भी उसका पीछा कम करेंगे। इसलिए जो लोग दुःखों को वरदान समझते हैं, वे दुःख उठाते हुए भी उनसे विचलित नहीं होते।

हमें एक महात्मा के विषय में जानकारी है, जिनके एक फुन्सी हुई। बढ़ते-बढ़ते उसने फोड़ा का रूप ले लिया। फोड़ा बढ़ा तो घाव बन गया। घाव में उपेक्षा हुई तो उसमें कीड़े पड़ गये। महात्माजी ने आरम्भ से ही उसकी परवाह नहीं की। न कोई दवाई लगाई, न कुछ अन्य उपचार ही किया।

एक दिन वे अपने घाव से घिरने वाले कीड़ों को किसी कागज के टुकड़े से उठा-उठाकर उसी घाव पर डाल रहे थे। लोगो ने देखा तो आश्चर्य से पूछने लगे—'ऐसा क्यों करते हैं आप ? क्या पागल हो गये हैं ? इसका उपचार करना चाहिये अन्यथा समूचा अङ्ग सड़ जायगा।

महात्माजी ने शान्त मन से, हँसते हुए उत्तर दिया—'उपचार क्या करना है भाई ! उपचार जितने करोगे उतने ही रोग बढ़ेंगे। पुराने जमाने में इतने उपचार नहीं थे। इस कारण रोग भी कम होते थे। अब रही सड़ने की बात ! तो शरीर नश्वर है प्राण निकने के बाद से ही इसमें सड़न की क्रिया का आरम्भ हो जाता है। अब यदि पहिले सड़ना आरम्भ कर दे तो भी उससे आत्मा को तो कुछ हानि होने वाली नहीं है।

लोग चुपचाप सुन रहे थे उनकी बात, वे कहते जा रहे थे— 'मैं नहीं चाहता कि इन कीड़ों को मेरे घाव में आहार मिल रहा है, उससे इन्हें वंचित न होना पड़े। यह शरीर और किसी के काम न आये तो इन्हीं के सही। उस घाव में जो कष्ट होरहा है, उससे भी घबराना क्यों? शरीर का स्वभाव है कष्ट और आराम। जितना ही कष्ट भोग लिया जाय, उतना ही पापों का नाश और फल-भोग का क्षय ही आत्मोन्नति का मुख्य आधार है। इसलिए दुःखों की प्राप्ति हमारे लिये वरदान स्वरूप है।'

इससे स्पष्ट है कि दुःख-सुख शरीर के धर्म हैं, इनमें से जब जो कुछ प्राप्त होता हो, उसे संहर्ष स्वीकार करो। भौतिक सुख अन्त में दुःख के कारण होते हैं, उसी प्रकार भौतिक दुःख भी आगे चलकर सुख के कारण बन जा॰े हैं। यदि सुख की आकांक्षा है तो दुःखों के भोग से घबराओ मत।

यदि दुखों का स्वागत करोगे तो तुम्हारे मन में शरीर के प्रति जो मोह है, वह घटने लगेगा। तुम्हें अनुभव होने लगेगा कि शरीर मेरा नहीं है, मैं स्वयं भी शरीर नहीं हूँ, मैं तो उससे भिन्न आत्मा हूँ। शरीर का जो नाम-रूप है, वह मेरा नहीं हो सकता। क्योंकि आत्मा का नाम, रूप, आकार-प्रकार कुछ भी नहीं है।

जो लोग शरीर को आत्मा मान लेते हैं। शरीर को ही कहते हैं कि 'यह मैं हूँ' वस्तुत: वे भ्रम में हैं। यह मूर्खता है जो शरीर को बल पूर्वक मैं मनवाती है। इसी को देहाध्यास कहते हैं। उस अध्यास का स्वरूप बताते हुए जगद्गुरु शंकराचार्य ने कहा है—

'शरीर, इन्द्रियादि अनात्म वस्तुओं के प्रति अहं त्वं का भाव ही अध्यास है। विद्वान् मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह आत्मा में ही एकीभाव की अनुभूति करता हुआ उस अध्यास को नष्ट कर डाले।

मनुष्य के मस्तिष्क में जो तनाव बना रहता है, उसमें भी विशेष कारण वह अध्यास ही है। जब तक शरीर को आत्मा से भिन्न मानने की विवेक बुद्धि जाग्रत् नहीं होती, तब तक मनुष्य प्राप्त दुःखों से भागने का प्रयत्न करता रहेगा, जिसमें उसे सफलता कभी मिल नहीं सकती।'

शरी गुणात्मक है, आत्म निर्गुण। यद्यपि गुणात्मक और गुण-रहित की अभिन्नता असम्भव है, तो भी लगता है कि वे दोनों एक हैं, अभिन्न हैं, किन्तु वैसा है नहीं। निर्गुण आत्मा को सत्वरज् और तम तीनों गुणों ने बल पूर्वक जकड़कर बाँध लिया है। उसका वह बन्धन इतना कड़ा है कि उससे मुक्त होना कठिन है॥

परन्तु कौन कहता है कि उस बन्धन से छूटा ही नहीं जा सकता? कौन कहता है कि देहाध्यास का त्यागना एक दम असम्भव है? भगवान् कृष्ण उपाय बताते हैं अर्जुन को—'मेरा जो भक्त इन्द्रियों को जीतने में सफल नहीं हो सका है अभी तक और जिसे साँसारिक विषय बार-बार बाधा पहुँचाते हैं, वह भी मेरी भक्ति के प्रभाव से विषयों के द्वारा हराया नहीं जा सकता। अर्थात् उसके विषय में भी यह नहीं कहा जा सकता कि वह इन्द्रियों को वश करने में असमर्थ ही रहेगा।"

उक्त कथन हमें निराशा से बचाता है। बहुत-से लोग अपने कर्मों की प्रबलता देख कर अथवा अभ्यास में असफलता देख कर आत्मोत्थान की आशा ही छोड़ बैठते हैं। मन में इच्छा है, किन्तु निराशा नहीं करने देना चाहती किसी कार्य को, वह मनुष्य को गड्ढेमें गिराने वाली स्थिति है। किन्तु सफलता न मिली तो पुन: सफलता की आशा से कर्म में जुट जाँय तो अभीष्ट पूरा होगा ही किसी दिन। इसीलिये विद्वानों ने आशा को जीवन और निराशा को मृत्यु कहा है। ऐसा मान कर साधक को चाहिये कि वह निराशा रूप मृत्यु का वरण कभी न करे।

मानसिक शांति के कुछ सूत्र

देहाध्यास और सांसारिक वासना को नष्ट करना सरल नही माना जाता। बहुत से कर्मवीर आगे बढ़ते हैं तो अभीष्ट प्राप्त कर ही लेते हैं। अब तक न जाने कितने रणबाँकरे वीरों ने अजेय दुर्ग जीत लिये होंगे। यदि वे उन दुर्गों को अजेय जान कर पहिले ही निराश हो गये होते तो कभी भी न जीत पाते।

आसक्तियों को नष्ट करने के लिये जो उपाय बनाते गये हैं, उनमें सत्संग का भी महत्व है। भगवान् कृष्ण ने इस विषय में कहा है कि 'ससार में जितने प्रकार की आसक्तियाँ हैं, वे सब सत्संग के द्वारा नष्ट होजाती हैं। यहीं कारण है कि सत्संग के समान साधन योग, सांख्य, धर्मपालन या स्वाध्याय कोई भी नहीं है। मैं तप, त्याग, इष्टापूर्त और दक्षिणा से भी उतना प्रसन्न नहीं होता।'

सत्संग क्या है ? साधु-सन्तों से समागम, सन्तों से समागम, सन्तों विद्वानों के उपदेश-श्रवण अथवा कुछ और ? मूल तो यहीं है किन्तु वृक्ष की अनेक शाखों के यमान सत्संग के रूप भी अनेक हो सकते हैं। उनमें संकीर्तन भी सत्संग का ही एक रूप है। जहाँ एक से अधिक मनुष्य एक साथ बैठकर परमात्मा के विषय में विचार करें, आत्मोत्थान की बात सोचें, भगवान् के गुण, चरित्र तथा नाम का गायन करें वह भी सत्संग ही है।

यदि इस प्रकार के सत्संग का प्रभाव देखना है तो करके देखो। स्वामी रामकृष्ण के बताये हुए तीन आनन्दों में से भजनानन्द के अन्तर्गत आने वाला सत्संग आसक्तियों से मन को हटाने का एक अच्छा उपाय है। ॐ नाम का संकीर्तन करो, ओंकार के गुण-चरित्रों का गायन करो, उसमें अपने मन को पूर्ण रूप से रमा दो। मान लो ॐ ही सर्वत्र दिखाई दे रहा है, उसकी व्याप्ति हमारे हृदय रूपी अन्तर्जगत में और वाह्य संसार में समान रूप से है। तो हम अकेले अथवा अन्य लोगों के साथ एक मात्र ओंकार के ही स्मरण में अपना मन क्यों न लगायें ?

स्वामी रामकृष्ण ने सत्संग की महिमा पर प्रकाश डालते हुए कहा है—'संसारी मनुष्यों को तो सत्संग की सदा ही आवश्यकता है। यद्यपि यही सभी के लिये अपेक्षित है, संन्यासियों के लिये भी, किन्तु संसारियों के लिये विशेष रूप से आवश्यक है। क्योंकि संसारी मनुष्य सदा ही रोग-ग्रस्त रहते हैं—उन्हें कामिनी-कांचन से सदा सम्पर्क रखना होता है।'

इस प्रकार, यदि आत्मा का उत्कर्ष चाहते हो तो सत्संग करो। सुहृदों के साथ बैठो तो ध्यान रखो कि अनावश्यक बातें न की जाँय। यदि अवकाश का समय हो तो ओंकार की चर्चा करो। उसके स्वरूप पर विचार करो। अपने घर में भी, परिवारीजनों के साथ इस प्रकार

की चर्चा करते हुए अपना और उनका भी हित-साधन कर सकते हो। यदि प्रयत्न करोगे तो परिवार में भी ओंकार-चर्चा का रूप एक अच्छे खासे सत्संग का रूप ले सकता है।

ध्यान रहे कि वह उपाय कोई बहुत साधारण उपाय नहीं है। इसके द्वारा मन में एकाग्रता आती और ध्येय के प्रति निष्ठा बढ़ती है। मनुष्य जो कुछ चाहता हैं उसकी पूर्ति इच्छा शक्ति के द्वारा हो सकती है। यदि मन को इस प्रकार से भी संयमित किया जाता रहे तो इच्छा शक्ति बलवती होने लगती है।

अनेक साधक जब जो चाहते हैं, उसकी प्राप्ति में सफल रहते हैं। किन्तु इस प्रकार की सभलता दृढ़ इच्छा शक्ति का ही फल समझिये। यदि आप अपनी इच्छा शक्ति को सबल बनाने में सफल होजाँय तो सभी कुछ प्राप्त कर सकते हैं। स्वामी विवेकानन्द का कथन है—'मन को धीरे-धीरे और विधिपूर्वक वश में किया जाय। धीरे-धीरे धैर्यपूर्वक निरन्तर संयमित रूप से इच्छा शक्ति को सबल बनाना चाहिए। यह न तो बालकों का खेल है, न किसी प्रकार की सनक है कि एक दिन छोड़ दें। वह तो जीवनभर का कार्य है और लक्ष्य-सिद्धि में जो भी मूल्य देना पड़े, वह पूर्ण रूपेण उचित है। वह लक्ष्य परमात्मा को लक्ष्य बना कर सफलता के निश्चय का ज्ञान रहे तो उसकी सिद्धि के लिये, जितना भी मूल्य चुकाया जाय, अधिक नहीं माना जा सकता।'

इस प्रकार, साधक को विश्वास लेकर आगे बढ़ना होता है। यदि वह आत्मा-परमात्मा की एकता का ज्ञान प्राप्त करले तो उससे बढ़ कर और क्या बात हो सकती है?

विश्वास से निष्ठा उत्पन्न होती है और निष्ठा से मन पर नियन्त्रण होता है। मन पर ज्यों-ज्यों नियन्त्रण बढता जायगा, त्यों-त्यों ही इच्छा

शक्ति भी बढ़ती जायगी। इच्छा शक्ति का इस प्रकार बलवती होते जाना ही सब प्रकार की सफलता में श्रेष्ठ कारण सिद्ध हो सकता है।

मन के संयम से सतोगुण जी वृद्धि होती है। सतोगुण ही स्वर्ग और मोक्ष में कारण होता है। रजोगुण और तमोगुण मुख्य रूप से जन्म-मरण के चक्र में घुमाने वाले हैं। इन्हीं दो गुणों के प्रभाव से मनुष्य भवसागर में पड़ा रहता है।

वैसे तो तीनों ही गुण प्रकृति के हैं, आत्मा का तो कोई भी गुण नहीं है। फिर भी रजोगुण से छुटकारा पाने पर ही विवेक जाग्रत् हो सकता है। इसलिये सतोगुण की वृद्धि अधिक आवश्यक मानी गई है। भागवत में कहा है—'सतोगुण के द्वारा रजोगुण पर विजय प्राप्त कर लेनी चाहिए। उसके बाद सतोगुण की शान्तिवृत्ति के द्वारा उसकी दया आदि वृत्तियों को भी शान्त करना अपेक्षित है।'

मनुष्य का कर्त्तव्य यही है कि वह उपाय करे जिससे सतोगुण की वृद्धि हो। क्योंकि वैसा होने परही भगवद भक्ति मेंमन लगता है। इसका उपाय श्रीमद्भागवत में ही बताया है कि निरन्तर सात्विक वस्तुओं का सेवन करे। फिर यह भी कहा कि 'जिस धर्म के पालन से सतोगुण बढ़े, वही धर्म सर्वश्रेष्ठ है। क्यों कि उस धर्म के द्वारा ही रजोगुण और तमोगुण उत्पन्न अधर्म नष्ट हो सकता है।'

इससे स्पष्ट है कि यदि श्रेय चाहते हो तो सतोगुणी प्रवृत्ति बनाओ। वही खाओ-पियो,उसी प्रकार का आचरण करो, जिसमें सतोगुण निहित हो। रजोगुण और तमोगुण की जब तक विशेषता रहेगी, तब तक किसी प्रकार की साधना सफल नहीं हो सकती। इसलिये इनके त्याग में प्रमाद न करो।

सतो गुणी प्रवृत्ति में जो व्यवहार हो सकते हैं, उनका अनुमान स्वयं भी लगाया जा सकता है। फिर भी यह ध्यान रखा जाय कि

जिसमें दूसरों का हित-साधन होता हो वे कार्य किये जाते रहें। दुःखित मनुष्यों, असहाय जीवों आदि के प्रति हृदय में करुणा और दया रहनी चाहिये।

जो लोग सुखी हैं, वैभव, उत्कर्ष तथा कीर्ति आदि में बढ़े हुये हों उनके साथ ईर्ष्या भाव नहीं रखना चाहिए। वरन् भावना यह रहे कि सभी की श्रीवृद्धि होती रहे। ऐसे लोगों के साथ मैत्री भाव रखे किन्तु यदि वे आचरणहीन हों तो उनके साथ अपना विशेष सम्बन्ध न रखे।

दूसरों के दुःख से दुःखित होना उचित है। किसी को दुःखित या शोकग्रस्त देख कर हर्ष न मनावे और किसी को हर्षित या सुखी देखकर दुःखित न हो। यदि हम दुःखी हैं तो भी दूसरे के सुख से खिन्न न हों। यदि शत्रु भी सुखी हो तो उसका भी अशुभ न मनायें। यदि शत्रु दुःखी हो तो प्रसन्न न हो।

अभिप्राय यह है कि सभी के प्रति समान भाव रहे। किसी से ईर्ष्या, द्वेष, अनुराग आदि रहना रजोगुण और तमोगुण के ही कार्य हैं। काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार आदि सब अवगुण हैं। आत्म-साधक को इनका त्याग ही अपेक्षित है।

समभावी मनुष्य सदा सुखी रहता है। उसके पास जितना जो कुछ है, जब जैसा प्राप्त होजाता है, उसी में वह सन्तुष्ट रहता है। उसे न किसी से ईर्ष्या रहती है न द्वेष, किसी प्रकार के विचार उस स्थिति में अशान्ति उत्पन्न करने वाला नहीं होता।

मन में अशान्ति न रहे तो जप, संकीर्तन, ईश्वर-पूजन, परोपकार आदि में किसी प्रकार का व्यवधान नहीं पड़ता और साधक अपने लक्ष्य की ओर बढ़ता रहता है। भजनानन्द की यह दूसरी सीढ़ी पार होने पर ब्रह्मानन्द की तीसरी सीढ़ी पर चढ़ना फिर अधिक सरल हो जाता है।

बस वहीं साधक का गन्तव्य है, वही लक्ष्य है, वही शान्ति का वह द्वार है जिसकी कामना बड़े-बड़े ऋषि-मुनि भी सदैव करते रहते हैं और उसकी प्राप्ति के लिये ओंकार ब्रह्म की उपासना ही सरल साधन समझते हुए उसका आचरण करते हैं।

मन को वश में करने का एक उपाय छान्द्रोग्य-उपनिषद् में आया है। इसमें उद्दालक ऋषि और उनके पुत्र के संवाद का वर्णन हुआ है। श्वेतकेतु ने उनसे शान्ति का उपाय पूछा तो वे बोले—

'सोम्य ! दही मथते हुए उसमें जो सूक्ष्म भाग रहता है, वह ऊपरी सतह पर एकत्र होने लगता है, यही घी है। वैसे ही खाये हुए अन्न का सूक्ष्म अंश भी ठीक प्रकार से ऊपर आजाता है, यह मन होता है। पीये हुए जल का जो सूक्ष्म भाग एकत्र होकर ऊपर आता है, वह प्राण बन जाता है। भक्षण किये हुए तेज का जो सूक्ष्म भाग होता है, वह वाणी रूप होजाता है। इस प्रकार मन अन्नमय, प्राण जलमय और वाक् तेजोमय है।

पुत्र श्वेतकेतु की समझ में वह बात नहीं आई। उसने पिता से निवेदन किया—'भगवन् ! पुनः समझाने की कृपा कीजिये।'

उद्दालक बोले—'अच्छा, सोम्य ! सुनो, पुरुष में सोलह कलाएँ होती हैं। तुम पन्द्रह दिनों तक अन्न-भोजन न करें। केवल यथेच्छ पानी ही ग्रहण करो। प्राण जलमय है, इसलिये जल पीते रहने से वह नष्ट नहीं होता।

पिता के निर्देशानुसार श्वेतकेतु ने अन्न छोड़ दिया। पन्द्रह दिनों तक निराहार रहने के पश्चात् पिता की सेवा में उपस्थित होकर पुनः बोला—'भगवन् ! अब मैं क्या बोलूँ ?

पिता ने कहा—'सोम्य ! अब तुम ऋक्, यजुः और साम का पाठ करो।'

किन्तु श्वेतकेतु की स्मृति क्षीण होगई थी। उसने कुछ ठहर कर निवेदन किया—'भगवन् ! मुझे वे याद नहीं आरहे हैं।'

तब महर्षि ने उसे बताया—'सोम्य ! जैसे ईंधन से धधकती हुई अग्नि का अंगार जुगनू के समान बहुत छोटा रह जाय तो वह उससे अधिक दाहक नहीं होता, वैसे ही तुम्हारी सोलह कलाओं में से केवल एक ही कला शेष रह गई है। यही कारण है कि उस एक कला की कमी के कारण ही तुम्हें वेदों का स्मरण ही तुम्हें वेदों का स्मरण नहीं होरहा हैं। इसलिये अब तुम जाकर भोजन करो, फिर तुम्हें मेरी बात समझ में आजायगी।'

श्वेतकेतु ने जाकर भोजन किया और पुनः पिता के पास आकर बैठ गया। अब उसे वेदों का स्मरण होने लगा था। तब महर्षि ने उसे बताया—'सोम्य ! जेंसे ईधन से धधकती हुई आग का यदि जुगनू के समान अत्यन्त छोटा अंगारा रह जाय और उसे तृण युक्त करके जला पिया जाय तो वह अपने पूर्व परिमाण की अपेक्षा अधिक दाहकारी हो सकता है। वैसे ही तुम्हापी सोलह कलाओं में से जो एक कला शेष रह गई थी, वह अन्न के द्वारा प्रज्वलित होगई है। अब तुझे उसी से वेदों का स्मरण होगया है। हे सोम्य ! मन अन्नमय, प्राण जलमय और वाणी तेजोमयी है।'

श्वेतकेतु पिता के कथन को ठीक प्रकार से समझ गया था। अब उसे कुछ समझना शेष नही था। यदि हम भी इस वृत्तान्त को विवेचनात्मक दृष्टि से देखें तो यह तथ्य शीघ्र ही समझ में आ जायगा कि मन को स्थिर बनाने से स्मृति भी तीव्र होजाती है, जिसके लिए आहार में भी संयम आवश्यक होता है। क्योंकि मन, बुद्धि, स्मृति तीनों पर ही आहार का बड़ा प्रभाव पड़ता है।

इसीलिये हमारे आचार्यों ने मिताहार की प्रशंसा की है।अधिक अन्न का सेवन शरीर को तो स्थूल बनाता ही है, मन भी उसके कारण अपने सूक्ष्मांश को छोड़ता जाता है। उसमें स्थूलता बढ़ती जाती है वह स्मरण शक्ति को खोने लगता है। बुद्धि-विपर्यय के कारण शान्ति नहीं होपाती।

यदि शान्ति चाहते हो आहार पर नियंत्रण करो। पोषक, प्राकृतिक हल्का भोजन करो। उसमें शीघ्र पचने वाली वस्तुएँ रहें। मात्रा उतनी, जिसे भरपेट भोजन न कह सकें। आलस्य और भारीपन से बचने का भी यह एक अचूक नुस्खा है।

किन्तु हम भूखा रहने को भी नहीं कहते। हमारा अभिप्राय संयमित मात्रा में शरीर और मन के लिए हितकर आहार से है। यदि आप इस ओर ध्यान दे सके तो शीघ्र ही अपने शरीर में बहुत कुछ परिवर्तन पायेंगे।

इसी प्रकार अपने आचरण को शुद्ध बनाइये। यदि आचरण शुद्ध होगा तो मन भीं शुद्ध रहेगा। यदि मन शुद्ध होगा अशान्ति दूर रहेगी। इसीलिये विद्वानों ने आहार-विहार पर अधिक ध्यान देने का निर्देश दिया है कि जिससे मन सदा शान्त बना रहे। उसमें अशान्वि रहे ही नहीं। यदि आप चाहें तो सरलता से ऐसा कर सकते हैं।

समस्त गतियों का संचालक ओंकार

ओंकार समस्त गतियों का संचालक है। उसके विना कहीं कोई गति नहीं होती। जहाँ जो कुछ घटित होता है, उसका एक मात्र कारण ओंकार ही है।

वही पोषण के लिये अन्न उत्पन्न करता है, वही जल का एक मात्र स्रोत है, वही बीज रूप से वृक्षों का कारण है और वही फल-पुष्पों को प्रकट करने वाला है।

उसी का सम्बल लिये हुये पथिकगण अपने लक्ष्य पर पहुँच पाते हैं तथा उसी की शक्ति से सेनाएँ विजय अभिमान में सफलता प्राप्त करती हैं।

गोपथ ब्राह्मण ने इसी प्रकार के एक वृतान्त पर प्रकाश डाला है। देवताओं और दैत्यों के मध्य युद्ध होता रहा है आदिकाल से। प्रायः दिव्य शक्तियों पर आसुरी शक्तियाँ विजय प्राप्त करती ही रही हैं। उसका कारण रहा है देवताओं का प्रमाद। जब वे राग-रंग में व्यस्त एवं असावधान होते और परमात्मा को भूल जाते, तभी दुःख उठाते थे।

उधर दैत्यगण सदा सावधान रहते। वे अवसर देखते रहते कि देवगण कब प्रमाद ग्रस्त हों और कब उन पर आक्रमण किया जाय। इस प्रकार उन्हें बार-बार अवसर मिल जाता था देवताओं को पराजित करने का।

एक बार ऐसा ही अवसर पुनः आ गया जब दैत्यों ने आक्रमण कर दिया देवताओं पर। यद्यपि उन्होंने भी प्राणों को हथेली पर रखकर भीषण युद्ध किया था, किन्तु विजय नहीं मिलनी थी, नहीं मिली।

इन्द्र अपनी इन्द्रपुरी से भाग निकले। अनेक देवता उनके साथ चले। अधिक संख्या में देवगण और देवनारियाँ अपना-अपना घर छोड़ कर चल पड़े पहाड़ो की कन्द्राओं और गहन वनों की ओर। इस प्रकार सभी अपने-अपने प्राण बचाने के लिये छिपते फिर रहे थे।

देवराज इन्द्र परमात्मा की शरण में पहुँच कर आर्त्त स्वर में प्रार्थना करने लगे—'परब्रह्म प्रभो! हम सब आपके सेवक हैं। सदा ही धर्म में मति रहती है हमारी। हम न तो कभी अधर्म करते हैं, न किसी को करने देते हैं। इसीलिये दैत्यगण हम से द्वेष करते हैं। वे हमारे ऐश्वर्य को देख कर उसे छीनने को लालायित रहते हैं।

देवराज कुछ रुके तो परमात्मा ने उनकी ओर प्रश्न भरी दृष्टि से देखा। इन्द्र पुनः बोले—'दैत्यों ने हम पर आक्रमण कर दिया। हम युद्ध में हार गये। अधर्मियों की विजय हो गई और पाप का साम्राज्य हो गया तीनों लोकों पर। परन्तु, ऐसा क्यों हुआ प्रभो! हम पुण्यकर्मी और परम धार्मिक होते हुये भी क्यों हार गये दयालो?'

परमात्मा बोले—'तुम जब-जब प्रमाद में भरकर मुझे भूल जाते हो, तभी-तभी हारते हो देवराज! तुम राग-रंग में डूब जाते हो, वे सतर्क रहते हैं। वे जब भी तुम्हें दुर्बल देखते हैं, आक्रमण कर देते हैं।'

इन्द्र ने अश्रुपूरित नेत्रों में कहा—'भविष्य में ऐसा कभी नहीं होगा नाथ! हम सदा सावधान और राग-रंग से दूर रहेंगे। अब, इस दयनीय स्थिति से आप ही बचा सकते हैं हमें।'

ब्रह्म सोचने लगे, इन्द्र कहते जा रहे थे—'प्रभो! हमारी सहायता

कीजिये, हमें इस संकट से शीघ्र छुड़ाइये, आपके अतिरिक्त ऐसा कोई नहीं जो हमारी रक्षा कर सके।'

परमात्मा बोले—'सहायता तो मैं अवश्य करूँगा, किन्तु उसमें एक शर्त रहेगी। यदि उसे स्वीकार करो तो तुम्हारी विजय हो सकती है।'

इन्द्र ने साग्रह कहा—'बताइये वह शर्त, हम उसका प्राण-प्रण से पालन करेंगे।'

परमात्मा आश्वस्त होकर बोले—'मेरे सभी नामों में श्रेष्ठ ॐ नाम है। इसका उच्चारण करते हुए शत्रुओं के मध्य घुसते चले जाओ तो वे हार जायेंगे। ओंकार का उच्चारण निरन्तर होता रहे, रुके नहीं तभी फल मिलेगा। परन्तु शर्त यह है कि ब्राह्मण लोग जब कभी किसी मन्त्र का पाठ करें तो पहिले प्रणव को लगा लें। यदि ब्राह्मण ऐसा न करें तो देवगण उस जप, तप, यज्ञ या पूजनादि को स्वीकार न करें।'

इन्द्र ने शर्त स्वीकार कर ली और अपने सैनिकों को आदेश दिया कि 'ओंकार का निरन्तर उच्चारण करते हुए बढ़ चलो रण क्षेत्र की ओर। ॐ नाम तुम में नई शक्ति और स्फूर्ति लायेगा और इसी के प्रभाव से तुम असुरों पर विजय प्राप्त करोगे।'

आदेश सुन कर देव सेना ने कूच का डंका बजा दिया और ओंकार का उच्चारण करते हुए आगे बढ़े। ओंकार के प्रभाव से ही उन्हें विजय प्राप्त हो गई।

इस प्रकार ओंकार सेनाओं के लिए विजय श्री दिलाने वाला संबल है। इसके आश्रय में बड़े-बड़े कार्य सम्पन्न हो सकते हैं। जब सृष्टि का आरम्भ होने को था, तब कार्य ब्रह्म ने सर्व प्रथम ओंकार का ही उच्चारण किया था।

बाइबिल ने भी सर्गारम्भ में ब्रह्म सत्ता के साथ शब्द कीं सत्ता को स्वीकार किया है। शब्द ब्रह्म का यह रूप ओंकार के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है।

शिव महिम्न स्तोत्र में भी इसके महत्व को अद्वितीय रूप में मान्य किया गया है। वस्तुतः यह एकाक्षर ब्रह्म वर्णनातीत तथा अपार महिमा वाला है। इसके गुणों का गान महासागर की अनन्त जल राशि को स्याही और अश्वत्थ वृक्ष को लेखनी बना कर भी लिपिबद्ध किया जाना सम्भव नहीं है।

ओंकार की ध्वनि सभी धर्मों में मान्य और गृहीत है। समस्त धर्मों में की जाने वाली प्रार्थनाओं में इसी का रूपान्तर मात्र है। मुसलिम धर्मावलम्बी नमाज में जिस 'आमीन' शब्द का प्रयोग करते हैं वह ओम् का ही रूपान्तर है। ईसाई भी प्रार्थना के अन्त में 'अमेन' कहते हैं, क्या यह शब्द ओम् से भिन्न हो सकता है ?

स्थान भेद से एक ही शब्द के अनेक रूपान्तर देखे जाते हैं। इस लिए ओम् का आमीन या अमेन हो जाना कोई अस्वाभाविक बात नहीं है। देखते हैं कि अनेक स्थानों पर तो दस-बीस किलोमीटर के अन्तर पर ही उच्चारण बदल जाता है।

भारतीय उपासना पद्धतियों में तो ओंकार सभी धर्मों में समान रूप से मान्य है। 'मम योनिर्महद्ब्रह्म' कह कर उसका प्रतिपादन सब की योनि के रूप में किया गया है।

विश्व की उत्पति में ओंकार ही ब्रह्मा रूप से कारण होता है। वही विष्णु रूप से पालन करता और वही रुद्र रूप से प्रलय कर देता है। बालक उत्पन्न होते ही ॐ ॐ करके रोता है, उसमें भी ओंकार ही प्रतिध्वनित होता है। बालकों और किशोरों के हास्य में भी ओंकार समाविष्ट है। तरुण-तरुणियों के आमोद में जो ध्वनि होती है, उसमें जो आह्लाद है, वह प्रणव ही है।

प्रौढ़ावस्था में, जब मनुष्य दुर्बल और अनासक्त होता है, तब जिस शब्द का उच्चारण करता है, वह ओंकार से भिन्न नहीं है। क्योंकि दुःख, आर्तनाद, हास्य आदि सभी में ओंकार की ध्वनि निहित रहती है।

ओंकार ही सब रसों का आविर्भाव करने वाला है। करुणा, दया, रोष, क्रोध, अनुकम्पा आदि भावानुभावों में व्यक्त होने वाली ध्वनि ओंकार के द्वारा ही ध्वनित होती है।

एक विद्वान् ने ओंकार को लकड़ी के कई खण्डों में विभक्त किया और पाया कि यदि उन्हें विशिष्ट क्रम से जोड़कर रखा जाय तो सभी भाषाओं की लिपियाँ बन सकती हैं। उन्हीं खण्डों के विशिष्ट क्रम सब प्रकार के जीवों की आकृतियाँ बना सकते हैं।

ओंकार के यही टुकड़े गणेश की, हनुमान की, शिव-लिंग की या जलहरी की मूर्ति बना देते हैं। राम, कृष्ण आदि देवताओं के रूप बनाने में भी इनका प्रयोग हो सकता है।

ॐ परमात्मा का एक प्रतीक है। अन्य प्रतीकों की अपेक्षा अधिक महिमा वाला प्रतीक। जो विशेषता अन्य प्रतीकों में नहीं, वह इसमें दिखाई देती है।

ओंकार अक्षर रूप भी है और मूर्ति रूप भी। इसमें आकार है भी और नहीं भी। इसका प्रत्येक अङ्ग अपनी अद्भुत विशिष्टता से सम्पन्न रहता है।

ओंकार में परमात्मा का विराट् का मस्तक ओंकार है। इकार दाँया नेत्र और ईकार बाँया नेत्र है। उकार दाँया श्रोत्र और ऊकार बाँया श्रोत्र है। ऋकार और ॠकार दाँते-बाँये कपोल हैं। एकार ओष्ठ और ऐकार अधर है। ओकार और औकार नीचे-ऊपर की दन्त पंक्तियां हैं। अं, अः दोनों तालु हैं। क से ङ तक के पाँच अक्षर विराट् के

पाँच दाँये हाथ तथा च से ञ तक के अक्षर पाँचे बाँये हाथ हैं। ट से ण तक के अक्षर और त से न तक के अक्षर उसके दोनों ओर के चरण हैं। पकार पेट, फकार दाँया पार्श्व, बकार बाँया पार्श्व भकार कन्धा और मकार हृदय है। यकार से सकार तक के अक्षर सप्त धातु, हकार आत्म रूप और क्षकार क्रोध रूप है। इस प्रकार विराट् के अक्षरात्मक शरीर का मुख्य कारण ओंकार ही है। इससे स्पष्ट है कि समस्त ब्रह्माण्ड की, समस्त अक्षरों की, समस्त स्वरों की तथा समस्त व्यजनों की उत्पत्ति एक मात्र ओंकार से-हुई है।

जैसे प्रणव से समस्त अक्षर व्यक्त हुए हैं, वैसे ही सभी मन्त्रों का मूल कारण भी प्रणव ही है। जैसे किसी वृक्ष की जड़ को काट डालो तो वह पूरा वृक्ष ही नष्ट हो जायगा। वैसे ही ओंकार के बिना कोई भी मन्त्र काम का नहीं होता। क्योंकि उनमें जो शक्ति और प्रभाव है, वह सब ओंकार का ही है।

वृक्ष के डंठल में अनेक पत्ते, फल और पुष्पादि गुंथे रहते हैं यदि डंठल को हटा दें तो पत्ते, फल आदि पृथक्-पृथक् हो जाते हैं, वैसे ही ओंकार में सभी अक्षर गुंथे रहते हैं। यदि मन्त्रों से ओंकार को पृथक् कर दिया जाय तो सभी अक्षर पृथक्-पृथक् हो जाँयगे। अभिप्राय यह है कि मन्त्र में अक्षरों की सम्मिलित शक्ति ओंकार के बिना नहीं रह सकती।

बड़े-बड़े विद्वानों, सन्तों, ऋषि-मुनियों आदि ने ओंकार विषयक अनेक अनुभव किये। सिख धर्म के प्रवर्तक गुरु नानकदेव ने भी ओंकार को ही ब्रह्म रूप माना है वे कहते हैं—

ओंकार ब्रह्म उत्पत्ति ओंकार किया जिन चित्त।
ओंकार सैल जुग भये ओंकार वेद निरमये।
ओंकार शब्द जप रे ओंकार गुरुमुख तेरे॥

उक्त तथ्य पर प्रकाश डालते हुए नानकजी ने उसे तीनों लोकों में व्याप्त माना है। उसीसे जल, पृथिवी, पर्वत आदि की उत्पत्ति हुई स्वीकार की है—

ओम आखर सुनहु विचार, ओम आखर त्रिभुवन सारा।
प्रणवों आदि एक ओंकारा, जल थल महिथल कियो पसारा॥

आर्य धर्म के प्रवर्तक महर्षि दयानन्द सरस्वती भी ओंकार जप को ही सर्वश्रेष्ठ मानते हुए कहते हैं—

'जो ईश्वर का ओंकार नाम है सो पिता-पुत्र के सम्बन्ध के समान है और यह नाम ईश्वर को छोड़कर दूसरे अर्थ का वाची नहीं हो सकता। ईश्वर के जितने नाम हैं, उनमें से ओंकार सबसे उत्तम नाम है। इसलिए इस नाम का जप अर्थात् स्मरण और उसी का अर्थ विचार सदा करना चाहिये कि जिससे उपासक का मन एकाग्रता प्रसन्नता और ज्ञान को यथावत प्राप्त होकर स्थिर हो जिससे उसके हृदय में प्रकाश और परमेश्वर की प्रेम भक्ति सदा बढ़ती रहे।'

स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती ओंकार को समस्त नाम, रूप और आकृतियों का मूल बताते हैं—

यह प्रणव कोई बाहर से आई वस्तु नहीं है। समस्त आकृतियाँ ओंकार से ही बनी हैं। तुम अपने शरीर में देखो, दोनों भौंहों और नासिकाओं को मिलाकर 'अका' बन जाता है। भ्रूमध्य से ब्रह्मरन्ध्र तक 'उ' की मात्रा, ब्रह्मरन्ध्र बिन्दु और अमात्र तो परिपूर्ण है। इसमें यदि स्पष्टता न दीखे तो दोनों हाथ और वक्ष मिलकर अकार कंठ उकार की मात्रा, सिर बिन्दु यह स्पष्ट है। इसी प्रकार दोनों पैर और कटि से ऊपर का भाग मिलकर भी ओंकार की आकृति बन जाती है।

यह जितना नाम-रूपात्मक जगत् है, सब ओंकार है। समस्त नाम ओंकार से बनते हैं। अकार ही समस्त वाणी हैं। ओंकार से समस्त रूप

बनते हैं, क्योंकि जितने रूप हैं, उनमें बिन्दु, रेखा और गोलाई यही तीन सिद्धान्त रहते हैं।

और प्रणव में यह तीनों ही हैं। बिन्दु है, रेखा है तथा उकार एवं चन्द्रबिन्दु में गोलाई है। इसलिए सब रूप भी ओंकार ही है। इस प्रकार यह अपर ब्रह्म अर्थात् सम्पूर्ण जगत् प्रपंच प्रणव ही है।

ओम् किसी भाषा विशेष का शब्द नहीं है। कुछ लोग उसे संस्कृत भाषा का इसलिए मानते हैं कि संस्कृतज्ञों ने उसे अपना लिया है और मन्त्रविन्दु उसका प्रयोग करते हैं। वस्तुतः उस मान्यता में कोई तथ्य नहीं है, क्योंकि संस्कृत भाषा के शब्दकोष में भी इस प्रकार का कोई शब्द नहीं मिलता।

ओंकार न तो संस्कृत भाषा का शब्द है, न संस्कृत वर्णमाला में उसका कोई स्थान ही है। वह तो शुद्ध प्राकृतिक शब्द है और स्वतः व्यक्त हुआ है। इसलिए उसे मानव स्वभाव का मूल मन्त्र कह सकते हैं।

पशु-पक्षी भी उस शब्द की अभिव्यक्ति से वंचित नहीं हैं। उनके द्वारा जो शब्द होते हैं, उन सभी में ओंकार का समावेश है। संसार के सभी शब्द ओंकार से ही उद्भूत हैं।

सृजन की मूल शक्ति—ओंकार की अनाहत ध्वनि

अनहद नाद सदैव गूँजता रहता है। कोई पल, कोई विपल ऐसा
नहीं यह बन्द हो जाय। निःशब्द तथा एकान्त स्थान में जाकर ध्यान
से सुनिये, एक प्रकार की सनसनाहट सुनाई देगी। किसी भी स्थान पर
कानों को बन्द कर लीजिये एक प्रकार का शब्द अवश्य सुनाई देगा।
वही अनहद नाद या अनाहत नाद है।

तत्वान्वेषी प्राचीन ऋषियों ने नाद का अनुसन्धान करते हुए अनु-
भव किया कि जब ब्रह्म अभिव्यक्त होता है तो सर्वप्रथम नाद रूप में ही
अनुभव में आता हैं। वही नाद अक्षर ब्रह्म हैं, उसी नाद शक्ति के
अभिव्यक्त होने पर सृष्टि उत्पन्न होती है।

ओंकार निर्विकार ब्रह्म का मूल स्फोट होने के कारण ही इसे मूल
ध्वनि कहा गया है। यह सूक्ष्म प्रकम्प मन-बुद्धि से परे है। इसकी
उत्पत्ति किसी वस्तु के टकराव से नहीं होतीं, इसीलिए इसे अन-आहत
ध्वनि कहते हैं, जिसका अपभ्रन्श अनहद होता है। सर्ग-रचना में यही
अनाहत ध्वनि सहायक होती है।

गोपथ ब्राह्मण में सृष्टि के आरम्भ का एक सुन्दर वृत्तान्त मिलता
हैं—लोक पितामह ब्रह्माजी कमल से उत्पन्न हुए और सर्ग-रचना का
विचार करने लगे, किन्तु उनके समक्ष एक कठिन प्रश्न उपस्थित था कि
सर्ग-रचना का आरम्भ हो किस प्रकार ? उन्होंने सोचा—

'केवल एक ओम ओ३म् अक्षर है। इसके अतिरिक्त अन्य कोई भी
साधन मेरे पास नहीं है। तद एक अक्षर मात्र से मैं समस्त मनोरथों
समस्त लोकों, समस्त देवताओं, सब प्रकार के यज्ञों, सब प्रकार की

भाषाओं तथा समस्त स्थावर-जंगम देहधारियों की रचना कर सकता हूँ ?'

बहुत विचार करने पर भी जब कुछ समाधान न सूझा तो उन्होंने निर्विचार समाधि लगाई, जिससे उन्हें अक्षर रूप में ही परब्रह्म का साक्षात्कार हुआ। उन्हें प्रतीत हुआ कि वही चतुर्मात्र सर्व व्यापक प्रभु आश्वासन-सा दे रहे हैं।

फिर क्या था ? सब पहेली सुलझ गई। उनके मस्तिष्क में सर्ग-रचना का समस्त उपक्रम बैठ गया। तब उन्होंने ओंकार की प्रथम मात्रा से ऋग्वेद, और पृथिवी लोक की, दूसरी मात्रा से यजुर्वेद और अन्तरिक्ष की, तीसरी मात्रा से सामवेद और द्युलोक की तथा चौथी मात्रा से अथर्ववेद और इतिहास, पुराणादि की रचना की

इस प्रकार समस्त दृश्य-अदृश्य जगत् की रचना ओंकार के द्वारा ही सम्पन्न की गई। सौर-मण्डल, आकाश-गंगा, तारिकाएँ आदि सभी कुछ ओंकार में ही निहित हैं, उससे बाहर कुछ नहीं है।

यही कारण है परमात्मा सर्वश्रेष्ठ और स्वाभाविक नाम ओ३म् ही है। इसकी ध्वनि धरती, आकाश, पाताल तथा सभी दिशाओं में सर्वत्र स्वतः निरन्तर होती रहती है। सभी प्राणियों के भीतर उसी की ध्वनि है। बाहर के सभी शब्द उसी से उद्भूत हैं। पत्तों की साँय-साँय, नदी और समुद्र की लहरों से निकलती ध्वनि आदि सभी में ओंकार है।

समस्त वेद, शास्त्र, दर्शन और धर्मों का सार—ओंकार

ओंकार केवल उच्चारण की ही क्रिया नहीं, वरन् अनेक प्रकार की क्रियाओं की उत्पत्ति में कारण है। स्वामी रामतीर्थ ने इस विषय पर अपने अनुभवों की चर्चा की है—

'हिंदू शास्त्रों में कहा गया है कि जैसे बीज से वृक्ष निकलता है वैसे ही चारों वेद ओ३म् से निःसृत हुए हैं। यह प्रणव मन्त्र अर्थात् ओ३म् केवल कण्ठ से ही उच्चरित नहीं होता, अपितु उसके साथ और भी कई प्रक्रियाएं चलती हैं। जब ओष्ठ और कण्ठ उसका उच्चारण करते हैं तब मन उसका जप करता है और उसी समय हृदय भाव-तरङ्गों में विभोर होकर उनका गायन करता है। इस प्रकार उच्चारण, जाप और गायन की इस त्रिवेणी से ज्योतिर्मय सर्वात्मक प्रभु से तादात्म्य होता है। ओ म् परमेश्वर का सबसे स्वाभाविक और सच्चा नाम है।'

महर्षि याज्ञवल्क्य ने कहा है कि 'वेदों का आदि अक्षर ओ३म् ब्रह्म-रूप है। इसमें ब्रह्मा, विष्णु और महेश प्रतिष्ठित हैं। सर्ववेत्ता वही है जो प्रणव को जानता है। यही सब प्रकार के योग-साधनों का सार है। इसको जानना आवश्यक है। जो प्रथव को जान लेता है, उसे और कुछ जानने की अपेक्षा नहीं रहती। मन्त्र पाठ से पूर्व ओ३म् का उच्चारण आवश्यक है। सभी मन्त्र ओंकार से मिलकर ही फल के प्रदान करने वाले होते हैं।'

भगवान् मनु कहते हैं कि वेदाध्ययन के आरम्भ में और अन्त में भी ओ३म् का उच्चारण आवश्यक है।' गीता में भगवान् कृष्ण कहते हैं कि

-समस्त वेदों में ओंकार मैं हूँ।' महर्षि पतञ्जलि ने योग दर्शन में कहा है कि 'प्रणव का जप करने और उसके अर्थ का विचार करने से समाधि की अवस्था उत्पन्न हो जाती है।'

ओंकार की उपेक्षा करना गर्हित कर्म है। यदि कोई उच्च वर्ण का मनुष्य ओंकार में विश्वास नहीं करता तो उसे पतित ही समझना चाहिए। देवी भागवत में कहा है कि 'जो ब्राह्मण ओंकार को पिता रूप और गायत्री को माता रूप नहीं मानता, उसका हीन जन्म ही समझना चाहिए।

एकाक्षर ओंकार में सभी धर्मों का सार भरा है। उसमें समस्त दर्शनों का निचोड़ और समस्त सिद्धांतों का समावेश है। साहित्य और सङ्गीत की सभी विद्याएँ ओ३म् से ही निःसृत है।

भूमा का अमर गान ओंकार का ही गान है। समस्त सङ्कीर्तन ध्वनियाँ ओंकार में ही लीन होती हैं। ओंकार के बिना कोई गीत, कोई कीर्तन निष्प्राण के समान निरर्थक है।

अथर्व शिरोपनिषद् में कहा गया है कि 'जिसके द्वारा सभी प्राण वृत्तियाँ परमात्मा में लीन हो जाएँ, वह ओंकार है।'

चार प्रकार की वाणी प्रसिद्ध है—वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती और परा। जिससे शब्दों का उच्चारण किया जाता है, वह वैखरी वाणी है, यह स्थूल है। मध्यमा इससे सूक्ष्म और पश्यन्ती उससे भी सूक्ष्म है। परा वाणी अत्यन्त सूक्ष्म है। यद्यपि चारों वाणियाँ ओंकार से ही उद्भूत हैं, किन्तु परा वाणी साक्षात् ओंकार रूप है।

शिवपुराण का एक प्रसङ्ग है—मुनियों ने सूत जी से प्रणव की व्याख्या करने का निवेदन किया तो सूत जी बोले—'यह संसार प्रकृति के द्वारा प्रकट है, इसे तारने में नौका रूप होने के कारण यह प्रणव है। अथवा इसका दूसरा अर्थ भी बहुत महत्वपूर्ण है—'प्र' से प्रपञ्च, 'न' से

नहीं और 'व' से तुम में, अभिप्राय यह है कि तुम में (आत्मा में) प्रपञ्च नहीं है, इसलिए आत्मा प्रणव है।

ओंकार के दो रूप है 'ओम्' और 'प्रणव' इनमें शाब्दिक भेद के कारण अर्थ-सम्बन्धी भेद भी बन जाता है। प्रणव वह ध्वनि है, जिसे सुनने के लिए चित्तवृत्ति का निरोध आवश्यक है। किंतु ओंकार उसी ध्वनि का गौण रूप से उच्चारण मात्र है। इस प्रकार प्रणव सूक्ष्म रूप और ओंकार उसका स्थूल रूप है।

भगवान् शङ्कर ने 'प्रणव' शब्द की व्याख्या करते हुए कहा है—'प्रकृष्ट नूतनो वर्णो नित्य नूतन विग्रहः' अर्थात् प्रकृष्ठ का अभिप्राय उत्कृष्ठ या अत्यन्त और नूतन का अर्थ नवीन है। इस प्रकार जो अत्यन्त उत्कृष्ट और नित्य नवीन रूप धारण करने वाला है, वही ब्रह्म प्रणव कहलाता है।

ब्रह्मा से लेकर समस्त प्राणियों, देहधारियों का प्राण होने के कारण भी यह प्रणव ही है। वही अविनाशी, त्रिगुणात्मक, समस्त अक्षरों (ध्वनियों) मे और ओत-प्रोत तथा शुभ रूप प्रणव है। वही हंस रूप आत्मा तथा वही सृष्टि रचयिता परमेश्वर है।

वह सभी जीवों को अभय प्रदान करने वाला निर्भय ब्रह्म है। वह स्वयं ही साधकों के योगक्षेम का वहन करने वाला और जीवन को आनन्दमय बनाने वाला है। वही ओंकार आकाश के समान सर्व व्यापक और सर्वोच्च है।

डॉ० सम्पूर्णानन्द ने प्रणव की अनुभूति के विषय में चर्चा करते हुए कहा था—'जब योगी का प्राण सुषुम्ना में प्रवेश करके मूलाधार के ऊपर उठता है, तब उसको अन्य अनुभूतियों के साथ दिव्य नाद की भी अनुभूति होती है। उसके मार्ग में जो स्थान आते हैं—ऐसे स्थान, जिनको एक प्रकार से प्राण की यात्राके स्टेशन कह सकते हैं, उनकी 'चक्र' संज्ञा है। प्रत्येक चक्र में नाद का एक विशेष रूप होता है। हिंदी का प्रयोग करने

वाले सिद्ध और सन्त मत के आचार्यों ने इन नादों को सामूहिक रूप से 'अनहद' कहकर पुकारा है, जो संस्कृत के अनाहत का तद्भव रूप है। सहस्रार में पहुँच कर नाद के सूक्ष्मतम रूप का अनुभव होता है, जिसको 'प्रणव' नाम दिया गया है।

महान् विचारक एवं प्रख्यात भाषाविद् श्रीदाऊदयाल गुप्त अपनी 'वागीश्वरी योग' नामक पुस्तक में लिखते हैं—

'हृदय में विद्यमान प्रणव सदैव गूँजता रहता है। अनाहत नाद उसी की अभिव्यक्ति है। वाणी कुछ भी कहे, लेखनी किधर भी चले, उसी से ओत-प्रोत रहेगी। किन्तु साधक को उसकी प्रकर्षता का अनुभव तभी हो सकता है, जब वह निर्लिप्त भाव से साधना में निरन्तर लगा रहे।'

ओंकार-साधना से अविद्या का नाश और विद्या का उदय होता है। साहित्यिकों में साहित्य की, कवियों में कवित्व की, विचारकों में विचार की तथा संगीतज्ञों की संगीत की अभिरुचि जाग्रत् करने में मुख्य प्रभाव ओंकार का ही है, चाहे वह प्रत्यक्ष रूप से हो अथवा परोक्ष रूप से।

ओंकार की साधना शक्ति-कोषों का जागरण करती है, जिससे भौतिक और आध्यात्मिक शक्तियों का विकास होने लगता है। शारीरिक रोग और मानसिक सन्तापों को दूर करने में भी यह साधना बहुत उपयोगी है।

प्रणव के उच्चारण मात्र से ऐसी स्वर लहरी उत्पन्न होती है, जिससे समस्त वातावरण आन्दोलित हो उठता है। कहा जाता है कि भगवान् कृष्ण ने जो महारास किया था, उसमें बजने वाली किङ्कणियों की ध्वनि ओंकार से साम्य रखती थी। संसार जानता है व्रज मण्डल में होने वाला वह रास अत्यन्त अद्भुत था। उससे जिस आनन्द रस की वृष्टि हुई, उस में सभी प्राणी अपने को भूल बैठे। मनुष्य क्या, पशु-पक्षी भी निस्तब्ध हो गए।

जहाँ क्रिया है, वहाँ कम्पन भी अवश्य होगा और जहाँ कम्पन है वहाँ शब्द भी होना ही चाहिए। परिणाम स्वरूप सृष्टि रूपी क्रिया में साम्यावस्था प्रकृति की सर्वप्रथम हिलोर है। उससे जो ध्वनि निकलती है उसकी संज्ञा शिव रूपी ओंकार है।

शास्त्रों में इस बात का उल्लेख है कि प्रलयकालीन सुषुप्ति के पश्चात् जब जाग्रति का समय आता है, तब परमात्मा की इच्छा होती है कि मैं एक से अनेक रूप हो जाऊँ (एकोऽहं बहुस्याम) उनकी ऐसी इच्छा होते ही ब्रह्मांड प्रकृति में कम्पन आरम्भ हो जाते हैं। उस प्रथम कम्पन में जो शब्द होता है, उसी को विद्वानों ने प्रणव नाद कहा है।

और वही प्रणव-नाद ओंकार रूप में प्रसिद्ध हुआ। स्थूल रूप से भी उसकी उपासना की जाय तो समस्त कल्याणों की प्राप्ति हो सकती है। प्रश्नोपनिषद् में कहा है—

तमोंङ्कारेणैववायतनेनान्वेति विद्वान्।
यत्तच्छान्तमजरममृतमभयं परञ्चेति॥

अर्थात्—जो विद्वान् ओंकार का आश्रय ले लेता है, उसे उस शांत, अजर, अमर, अभयप्रद और परम व्यापक परमात्मा की प्राप्ति (शीघ्र) होती है।

समस्त नाम परमात्मा के नाम हैं। ओंकार के द्वारा ही उन नामों का प्रसार होता है। भगवान् के नाम समस्त रहस्यों का उद्घाटन का उन्हें व्यावहारिक बनाते और परमात्मा को प्रत्यक्ष कराते हैं। ओंकार उन सभी नामों का मूल आधार है।

ओंकार ही ब्रह्म रूप निराकार परमात्मा है, उस समय उसकी प्रणव संज्ञा होती है। परब्रह्म का सभी समयों में ओंकार में ही निवास रहता है। ब्रह्म और ओंकार में इस प्रकार में इस प्रकार भी अभिन्नता है।

वही एक चिंतनीय परम तत्व है। उसमें अनन्त सौंदर्य और सौष्ठव

है। वह अनुभूति से परे, वर्णनातीत तथा चिंतनातीत भी है। उसका ज्ञान चिंतन से ही सम्भव है।

ओंकार ही सब का आश्रयदाता है, वही समस्त कल्याणों का सम्पादन करने में समर्थ है। वही एक मात्र सत्य तत्व है। ज्ञानीजन उसी को अनेक नामों से पुकारते हैं।

ओंकार ही समस्त लिपियों का मूल स्रोत है। समस्त विद्याओं का उद्‌भव उसी से हुआ है। भौतिक शास्त्र, रसायन शास्त्र, भूगोल, खगोल, पुरातत्व, कृषि, नागरिक शास्त्र, समाज शास्त्र, जीव विज्ञान, वनस्पति विज्ञान, मनोविज्ञान, आत्म विज्ञान आदि कोई भी ज्ञान ऐसा नहीं, जिस का सम्बन्ध ओंकार से न हो। वस्तुत: सर्वत्र अ, उ, म रूप यह ओंकार ही फैला हुआ है।

ओंकार की गुरुता एवं महिमा तीन प्रकार के प्रकर्षों में सन्निहित है। इसके प्रत्येक अक्षर में अद्वितीय चुम्बक शक्ति विद्यमान है। जैसे चुम्बक लोहे को खींच लेता है, वैसे ही ओंकार समस्त शक्तियों को अपने में समेटे हुए विद्यमान है। इसका 'अ' अक्षर ऊर्ध्वगामी चुम्बक है तो 'उ' मध्य में साधे रहने वाला। 'म' को अधोगामी चुम्बक कह सकते हैं।

'अ' उत्कर्षण और 'म' अपकर्षण के मध्य सङ्कर्षण का कारण है। उकार ही सङ्कर्षण की धुरी है। इस प्रकार ओंकार के तीन अक्षरी में उत्कर्ष, सङ्कर्ष और अपकर्ष तीनों विद्यमान हैं और यही उत्कर्ष, सङ्कर्ष तथा अपकर्ष संसार की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय रूप तीनों अवस्थाओं में कारण है।

और शायद आप न जानते हों कि जिस पृथिवी की परिधि लगभग चालीस हजार किलोमीटर और भार उन्नीस हजार टन है, वह इन्हीं तीन कर्षणों के प्रभाव से शून्य आकाश में टिकी है। पृथिवी के नीचे

कोई अन्य आधार है ही नहीं। शास्त्रों ने 'आकृष्णेन रजसा' कहकर इन्हीं कर्षणों का प्रतिपादन किया है।

इससे स्पष्ट है कि संसार में जो कुछ है, उसका आधार ओंकार ही है। वही समूचे ब्रह्मांड का आश्रय भूत है। इसकी तीन मात्राओं ने त्रिलोकी साध रखी है। अकार पर आकाश स्थित है तो उकार पर पृथिवी। मकार पर पाताल टिका हूँ। इन मात्राओी के अतिरिक्त कहीं कुछ नहीं है।

परन्तु ओंकार जड़ नहीं है, चेतन ही (उसकी प्रत्येक मात्रा चैतन्यता से ओत-प्रोत है। उसके उक्त कर्षणों में भी जड़ता नहीं समझनी चाहिए। वरन् इसके सम्पर्क में जो कुछ भी आ जाय, वही चैतन्य के समान भासता है।

चित्त को निर्मल और पवित्र करने का सरलतम साधन ओंकार

ओंकार हरमात्मा है, उसी को ब्रह्म कहते हैं। ब्रह्म निराकार है, ओंकार उसकी अभिव्यक्ति है अ, उ, न् के रूप में उसके द्वारा मनुष्य मात्र अपना श्रेय सम्पादन कर सकता है। उसी के द्वारा दोष-दुर्गुण दूर होते हैं। उसी में उत्कर्ष का मार्ग निहित है।

ओंकार साधना से चित्त निर्मल होता है, अन्तःकरण की पवित्रता बढ़ती है, समस्त विघ्न दूर होते हैं। प्रह्म साध्य है तो ओंकार

साधन। जब तक साधन उपयुक्त नहीं होता, साध्य की प्राप्ति सम्भव नही होती।

ओंकार विवेक है, उसी के द्वारा शान्ति के द्वार खुलते हैं। उसी के द्वारा श्रद्धा का पथ विस्तृत होता है। उसी के द्वारा विश्वास रूपं वृक्ष की जड़ हरी होती है।

यदि कोई अविवेकी पुरुष कहे कि मुझमें श्रद्धा भाव है, मैं परमात्मा में श्रद्धा रखता हूँ तो अवश्य ही यह दम्भ होगा, श्रद्धा नहीं। क्योंकि विवेक-रहित श्रद्धा दिखावटी होती है। उसे हम श्रद्धा नहीं, आत्म-प्रवंचना कह सकते हैं।

विवेक जगेगा शान्ति से, मन में शान्ति होगी तो विवेक की आविर्भाव हो जायगा। विवेक को जगाने के लिये मन को शान्त बनाओ।

मन को शान्त बनाना भी बहुत सरल कार्य नहीं है। कह देने मात्र से मन शान्त नहीं होजाता, उसके लिये उपाय करना होता है, उपाय, किन्तु बहुत कठिन नहीं, बहुत दुष्कर नहीं यदि करने लगो तो बहुत सरल रहेगा वह उपाय।

मन की शान्ति का उपाय है—ओंकार का ध्यान। वह मन को शान्त करेगा, एकाग्र बना देगा चित्त को, जगा देगा विवेक को, फिर लगेगा कि सभी कुछ सरल है, सभी कुछ स्वाभाविक है।

और जो सरल, स्वाभाविक होता है, उसमें मन भी लगता है। और जिसमें मन लगता है वह बन जाती है जीवन की साधना। मन लगने से ही सिद्धि होती है। यदि मन न लगे तो कभी नहीं मिल सकती सिद्धि।

ओंकार सर्व व्यापक है, अनादि है, उसका आदि अन्त नहीं, वह सब का नियन्ता और पालनकर्त्ता है, वही सर्वगत और सर्वज्ञ है? वह सूक्ष्म से सूक्ष्म या अणु से भी अणु है।

सूर्य में, चन्द्रमा में, नक्षत्रों में, अग्नि, वायु, आकाश में, पृथिवी और जल में, सभी ओंकार व्याप्त है। सभी में उसी एक ब्रह्म की ज्योति जगमगा रही है। कोई दिशा ऐसी नहीं, जिसमें ओंकार व्याप्त न हो, कोई कण ऐसा नहीं जिसमें ओंकार का अस्तित्व दिखाई न दे।

सभी शास्त्रों ने उसकी महिमा का गान किया है। सभी मन्त्र उसके आश्रय से क्रियावान् होते हैं। कोई मन्त्र ऐसा नहीं जो ओंकार के बिना सिद्धि प्रदान कर सके।

ओंकारहीन मन्त्र उसी प्रकार है जैसे इंजिन के बिना कोई यन्त्र। जिन मन्त्रों को अत्यन्त सिद्धिदायक कहते है, उनकी सिद्धि ओंकार पर ही आधारित है।

यह शरीर एक प्रकार का दिव्य झूला है, उसे साधने वाली दो डोरियाँ है श्वास-निःश्वास। इस झूले में ओंकार रूप परब्रह्म बैठा है।

कुछ लोग शरीर को रथ की संज्ञा देते हैं। उसमें मन रूपी वेगवान् अश्व जुता हुआ है। रथ के मध्य में बैठा हुआ ओंकार रूप सारथी जब अश्व को चलाना चाहता है तब वह चल पड़ता है एक लक्ष्य की ओर। उस समय उसकी गति स्थिर होती है, वह इधर-उधर बहक नहीं सकता।

ओंकार एक पुष्प है। ऐसा पुष्प जिससे अत्यन्त मनोमोहक सुगन्ध निकलती है। यह पुष्प ज्ञान-विज्ञान नामक डालों पर प्रकट होता है।

सुगन्ध वैसे ही मन को खींचती है अपनी ओर, उस पर भी यदि वह दिव्य हो तो क्या ही कहने ? विश्व में जितनी भी सुगन्धियाँ हैं, उन सबके आकर्षण को रख दें एक ओर और चिन्तन करें ओंकार का तो प्रतीत होगा कि कोई सुगन्ध ऐसी नहीं जो ओंकार की समानता कर सके।

संसार में जितने भी दिखाई देने वाले पदार्थ हैं, वे सब ओंकार की ज्योति से ही प्रकाशित हैं। वस्तुतः ओंकार समस्त ज्योतियों का मूल अथवा उद्‌गम स्थान है। इसी के प्रकाश से यह समूचा विश्व प्रपंच भासमान है।

यह शरीर अनेक व्याधियों से ग्रसित है। उसे किसी भी प्रकार शांति नहीं मिलती। ऐसे भटकते हुए प्राणियों के लिये ओंकार ही एक श्रेय-प्रद साधन है। यह व्याधियों को दूर करता, दुश्चिन्ताओं को मिटाता और शान्ति प्रदान करता है।

ओंकार में तत्वज्ञान भरा है, निश्चय ही वह ज्ञानियों के लिये ज्ञान है। किन्तु ओंकार का ज्ञान कोई रहस्यात्मक नहीं है, वरन् उसके द्वारा समस्त रहस्यों का उद्‌घाटन हो सकता है, सभी गूढ़ताओं को स्पष्ट किया जा सकता है।

ओंकार का मार्ग बहुत सरल और स्वाभाविक है। समस्त प्राणियों में व्याप्त होने के कारण चित्त स्वभावतः उसकी ओर आकर्षित होता है।

बड़े-बड़े ऋषि-मुनियों ओंकार को ही अपना परम आश्रय माना है। वही अमृत हैं, उसी के द्वारा काल पर विजय प्राप्त की जा सकती है।

यदि ओंकार मिल गया तो सभी कुछ मिल गया समझो। ओंकार सांसारिक वैभव है तो दिव्य ऐश्वर्य भी। प्राणी मरता है तो सभी कुछ यहाँ छोड़ देता है। मृत्यु उससे सभी कुछ छीन लेती है। जिसे उसने प्रेम से संचित किया वह जा नहीं पाता उसके साथ, चाहे कितना ही प्रिय पदार्थ क्यों न हो।

परन्तु, ओंकार एक ऐसा वैभव है, ऐसा ऐश्वर्य है जिसे मृत्यु भी नहीं छीन सकती। वह इस लोक में और परलोक में भी सर्वत्र साथ रहता है।

तो, मृत्यु भी न छीन सके जिसे, उससे बढ़कर ऐश्वर्य होगा ही कौन-सा ? इसलिए उपार्जन करो तो वह बस्तु करो, जिसे मृत्यु भी न छीन सके, काल भी न निगल सके।

ओंकार ऐसा परम ऐश्वर्य है, ऐसा ही अद्भुत वैभव है, जिसे पाकर प्राणी धन्य होजाता है। उसकी प्राप्ति होने पर कुछ और प्राप्त करने की इच्छा ही शेष नहीं रहती।

साँसारिक रोगों को दूर करने वाली यह एक अमोघ औषधि है। पापों को नष्ट करने के लिये यह एक अद्भुत पुण्य समूह है। मुमुक्षुओं के लिए यह एक अभीष्ट वरदान है।

वेद वेत्ताओं ने इसे आकाश के समान व्यापक, अरूप और अदृश्य माना हैं। वह सभी में समाया और सब ओर छाया हुआ है। वही सब से प्राचीन एवं पूर्ण है, इसलिये उसे पुराण पुरुष भी कहते हैं।

संसार में सभी कुछ जाना हुआ नहीं है। बहुत कुज अनजाना भी है। इसलिये रहस्यपूर्ण प्रतीत होता है। विज्ञान भी समस्त पदार्थों के अन्वेषण का लाभ नहीं पा सका है।

वैज्ञानिक नित्य प्रति नये-नये आविष्कारों में लगे रहते हैं, फिर भी जो कुछ मिला है, वह अपूर्ण है वह जानने योग्य है और जो जानने योग्य होते हुए भी जानने में न आता हो उसी को रहस्य कहते हैं।

वे सभी रहस्य केवल ओंकार के माध्यम से जाने जा सकते हैं। जिसने ओंकार को ठीक प्रकार जान लिया, उसके लिये अहीं कोई रहस्य शेष ही नही रह सकता।

ओंकार के ज्ञान में समस्त ज्ञान समाये हुए हैं। जिन आविष्कारों का ज्ञान विज्ञान भी नहीं कर सका, उसका उद्घाटन ओंकार के द्वारा किया जा सकता है।

शरीर को रोग हो तो वनौषधि चाहिए। उस प्रकार की औषधि जो रोग को शींघ्र ही दूर करदे। बहुत बार औषधियाँ काम नहीं करतीं उस स्थिति में ओंकार का आश्रय बहुत काम करता है।

ओंकार शरीर के लिते ही नहीं, आत्मा के लिये भी महौषधि का काम करता है। जिसने ओंकार को अपना लिया उसके तन, मन और प्राण तीनों हो बलवान होगये।

समस्त प्राणियों का सार यह पृथिवी है, क्योंकि सभी देहों की उत्पत्ति पृथिवी से ही होती है। पृथिवी का सार जल है, क्योंकि पृथिवी जल पर ही स्थित है और जल से ही पोषण प्राप्त करती है।

जल का सार औषधियाँ हैं। औषधियों में ही अन्न की गणना है। उस अन्न से ही शरीरों की उत्पत्ति होती है। क्योंकि शरीर अन्न पर ही आधारित है। उसका जन्म और जीवन सभी कुछ अन्न के ही आधीन है।

मनुष्य भी शरीर धारी है। उसका सार वाणी है, वाणी को शब्द भी कहते हैं। वाणी का सार ऋचा है, ऋचा का सार साम और साम का सार उद्गीथ हैं।

िद्वानों ने ओंकार को उद्गीथ ही कहा है। जो गाया जाने के योग्य हो उसे उद्गीथ कहते हैं। ओंकार गाने योग्य है. इसीलिये उद्गीथ कहलाता है।

ओंकार उद्गीथ है, गाने योग्य होने के कारण उसके द्वारा ब्रह्म की स्तुति की जाती हैं। इसीलिए इसे समस्त मन्त्रों में आदि स्थान और प्रमुखता प्राप्त है।

ओंकार में तीन ऐश्वर्य हैं—अकार, उकार, मकार। ज्ञानियों ने इसे प्रकर्ष कहा है। प्रकर्ष का अर्थ है चुम्बक। जो आकर्षण करने में सशक्त हो, उसे चुम्वक कहते हैं।

ओंकार चित्त को खींच लेता है। उसके द्वारा मन का ही आकर्षण नहीं होता, जो चाहो वह खिचा चला आये। देवताओं का ऐश्वर्य, उनकी शक्ति, उनकी कृपा। मनुष्य जो चाहे, वही प्राप्त कर सकता है उसके द्वारा। इसीलिये उसे प्रकर्ष की संज्ञा दी गई है।

अगर कुछ चाहते हो तो चित्त को ओंकार में रमा दो और भूल जाओ सब कुछ। तुमने ओंकार को पा लिया तो समस्त मन्जिलें आसान हो जायेंगी तुम्हारी।

इसे प्राचीन ऋषि-मुनियों ने उपास्य बनाया और इसके भेद को जान गये। ओंकार ही परमात्मा का नाम और प्रतीक है। सभी वेद, पुराण, ब्राह्मण ग्रन्थ उसी का गान करते हैं।

इसी कारण ओ३म् के द्वारा ब्रह्म की स्तुति की जाती है। ओ३म् ही स्वर्ग और अन्यान्य उच्च लोकों का देने वाला है। इसी के द्वारा सम्पूर्ण विश्व प्रकाशित है। इसी के द्वारा समस्त विश्व तप रहा है।

ताण्ड्य ब्राह्मण में 'ओंकार एवेदं सर्वम्' कह कर ओंकार को ही सब कुछ बताया है। उसी को अग्नि, वरुण, प्रजापति और सूर्य है, वही जीवन देता है।

ओंकारमय अविनाशी ब्रह्म की महिमा को प्रत्यक्ष करने के यह सम्पूर्ण विश्व ही प्रमाण है। इसीमें भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों काल निहित हैं। वही त्रिकालज्ञ और तीनों काल का नियंता है। विद्वानों ने उसी को महाकाल कहा है।

रथचक्र की नाभि में में लगे अरों के समान शरीरस्थ नाड़ियाँ एकत्रित हैं। विभिन्न रूपों में प्रकट होने वाला ओंकार रूप परमेश्वर जीवों के हृदय में निवास करता है।

यह ओंकार रूप परमेश्वर अन्धकार से परे तथा भवसिंधु से पार कराने वाला हैं। उसका ध्यान करते हुए अनेक साधक परमार्थ लाभ कर चुके हैं।

ओंकार की प्रथम मात्रा अकार व्याप्त है, इसलिये ब्रह्म का जागरिक स्थान रूप प्रथम चरण है। इस प्रकार जो जानता है, वह समस्त भोगों को प्राप्त एवं सभी में प्रमुख है।

ओंकार की दूसरी मात्रा उकार श्रेष्ठ होने के कारण स्वप्न स्थान रूप तैजस संज्ञक दूसरा चरण है। इस प्रकार जानने से ही ज्ञान बढ़ता और समभाव उत्पन्न होता है।

ओंकार की तीसरी मात्रा मकार है। यह मापक और विलीन करने वाली होने के कारण ब्रह्म का प्राज्ञ नामक तीसरा चरण है। यह सुषुप्ति स्थान वाला है।

मात्रा-रहित ओंकार व्यवहार-रहित, प्रपंच से परे तथा समस्त कल्याण रूप है। यह आत्मा को परमात्मा में लीन करने वाला ब्रह्म का चौथा चरण है।

ओंकार ही अक्षर ब्रह्म है। इसी को शब्द ब्रह्म कहते है। यही विश्व का सर्वश्रेष्ठ और सुदृढ़ आधार है. यही समस्त विश्व को स्थिर करता है।

ओंकार सभी ज्ञानों में श्रेष्ठ ज्ञान है। यह अनन्त रूप, अनन्त गुण और अमृत रस से युक्त है। वेदों ने इसे मुख्य रूप से जाना और प्रकट किया है।

ओंकार में ब्रह्मा, विष्णु, शिव तीनों देवता समाविष्ट हैं। उनकी आविर्भाव ओंकार से ही हुआ है। उसी से तीनों अग्नियों का प्राकट्य हुआ है।

ब्रह्मलोक में ब्रह्माजी को प्रणाम करते हुए देवगण कहते हैं कि ओंकार रूप ब्रह्म ने ही आपका रूप धारण किया है। आपको जो सृजन शक्ति प्राप्त हुई हैं, वह ओंकार की ही है।

विष्णुलोक में भगवान् विष्णु की स्तुति करते हुए देवताओं ने कहा

कि जो ओंकार है, वही आप हैं। आप में जो विश्व के पालन की सामर्थ्य है, वह प्रणव की ही सामर्थ्य है।

रुद्र लोक में भगवान् रुद्र की स्तुति करते हुए देवताओं ने कहा—"वे तीन मात्राएं आपकी हैं। उत्तर में शिर और दक्षिण में चरण हैं। जो उत्तर में है, वहीं ओंकार रूप है जो ओंकार है वही प्रणव है, वही सर्वव्यापी है और जो सर्वव्यापी है, वही सर्वरूप तथा अनन्त है।

ओंकार के प्रथमांश अकार में पृथिवी, अग्नि, ऋग्वेद, भूलोक और पितामह ब्रह्म समाविष्ट हैं। दूसरे अंश उकार में अन्तरिक्ष, यजुर्वेद, वायु भुवर्लोक तथा भगवान् विष्णु हैं और तीसरे अंश मकार में द्यु लोक सूर्य, सामवेद, स्वर्लोक और महेश्वर व्याप्त है।

ओंकार की प्रथम मात्रा अकार रजोगुणी, द्वितीय मात्रा उकार सतोगुणी और तीसरी मात्रा मकार तमोगुणी है। इनके रंग क्रमशः पीत, श्वेत और कृष्ण है।

समस्त देवताओं का कारण ओंकार है। उसी ने तीनों लोक और उनके उत्पन्न सभी देहधारी प्रकट किये। समस्त स्वरों का उत्पत्तिकर्ता भी वही है।

मनुष्यों के हृदयरूपी कमल की कर्णिका में दीपक की ज्योति-शिखा के समान, अँगूठे के आकार वाला यह ओंकार रूप ईश्वर विद्यमान रहता है। यही ध्यान के योग्य है।

कुछ विद्वानों ने ब्रह्म का एक रूप हंस माना है। यदि हम ओंकार को हंस मानें तो उसका दाँया पंख अकार और बाँया पंख उकार होगा। मकार उसकी पूँछ और आँधी मात्रा उसका शिर समझा जायगा। सतोगुण उसका शरीर तथा रजोगुण और तमोगुण उसके दोनों पाँव होंगे।

उस हंस रूप ओंकार में सभी लोक विद्यमान हैं। नाभि में महर्लोक कटिदेश में स्वर्लोक, जानुओं में भुवर्लोक और चरणों में भूलोक रहेगा।

जनलोक हृदय में, तपलोक कण्ठ में तथा सत्यलोक की स्थिति भौंहों के मध्य होगी।

वही अग्नि है, उसका रूप अग्नि के मण्डल के समान ही है। उसकी प्रथम मात्रा अग्नेयी है। दूसरी मात्रा वायव्या है, क्योंकि उसका रूप वायु मण्डल के समान है। तीसरी मात्रा सूर्या है, क्योंकि उसका रूप सूर्य मण्डल के समान प्रकाशमान है। चौथी अर्द्धमात्रा वारुणी कहलाती है, उसका रूप वरुण (जल) के समान है।

उक्त चारों मात्राओं में तीन-तीन मुख हैं, जो कि अत्यन्त सुन्दर, अत्यन्त तेजोमय तथा अत्यन्त आकर्षक है। इसलिए ओंकार को द्वादश कलात्मक कहते हैं।

ओंकार की बारह कलाओं के नाम भी अपनी-अपनी पृथक् विशेषता लिये हुए हैं। इनके नाम क्रमशः घोषणी, विद्युन्माला, पतंगिनी, वायुवेगिनी, नामधेया, ऐन्द्री, वैष्णवी, शांकरी, महती, ध्रुवा, मौनी और ब्राह्मणी हैं। इन मात्राओं में ही समस्त विश्व समाविष्ट है।

नारदपरिव्राजकोपनिषद् में एक वृत्तान्त मिलता है—एक बार नारदजी ब्रह्मलोक में जा पहुँचे। बड़े घुमक्कड़ थे नारदजी, कभी किसी एक स्थान पर टिके हों, ऐसा दिखाई नहीं देता। वे अपने मन में कभी कोई अनबूझी शंका रहने नहीं देते थे। मन में आया उसे चट से पूछ लिया।

तो ब्रह्मलोक में पूछ ही बैठे पितामह से—'भगवन्! लोग बड़े दुःखी हैं, आवागमन के चक्र से छूट ही नहीं पाते। बेचारे जन्म लेते हैं, बाल्य, कैशोर, युवा, प्रौढ़ आदि अवस्थाओं को पार करते हुए बूढ़े होजाते है। फिर मरते हैं और पुनः जन्म लेते हैं। उन्हें छुटकारा मिल सके इस चक्र से ऐसा कोई सरल उपाय बताने की कृपा कीजिये।'

ब्रह्माजी के पास सभी बाधाओं के उपाय थे। उन्हें उनकी कहीं खोज नहीं करनी होती थी। शंका कीजिये तो तुरन्त समाधान। बोले–'नारद! लोग व्यर्थ ही परेशान हो रहे हैं। उपाय जानना चाहते हो तो बताता हूँ। ओंकार को जानते हो न? वही ब्रह्म है, मुमुक्षुओं के लिये वही तारक मन्त्र है। अगर व्यष्टि और समष्टि में उनका चिन्तन किया जाय तो अभीष्टपूर्ति में कुछ सन्देह नहीं।

नारदजी चौंके—'यह व्यष्टि-समष्टि क्या है, इसका तात्पर्य मेरी समझ में आया नहीं।'

ब्रह्माजी ने कहा—'ओंकार रूप ब्रह्म के दो अङ्ग हैं नारद! एक व्यष्टि और दूसरा समष्टि। एक ब्रह्म प्रणव, संहार प्रणव, सृष्टि प्रणव और उभयात्मक प्रणव इसके भेद हैं। उभयात्मक प्रणव के दो भेद हैं बाह्य और आभ्यंतरिक। ब्रह्म प्रणव का एक भेद व्यावहारिक प्रणव भी है। जो बाह्य प्रणव है, वही व्यष्टि प्रणव कहलाता है।

एक आर्ष प्रणव और है। उभयात्मक प्रणव ही विराट प्रणव है। अकारादि चार मात्राओं वाले स्थूल आदि भेद से युक्त प्रणव को अर्द्ध-मात्रा प्रणव भी कहते हैं।

यही ओंकार रूप ब्रह्म एकाक्षर मन्त्र है, यही अन्त प्रणव कहा गया है। यह आठ भागों में विभक्त है—अकार, उकार, मकार, अर्द्धमात्रा, विन्दु, नाद, कला और शक्ति। चार मात्रा के परिलक्षित होने वाले ओंकार की प्रत्येक मात्रा के अनेकानेक भेद हैं। अकार मात्रा के अवयव दस हजार हैं, उकार के एक हजार और मकार के एक सौ अर्द्ध मात्रा ओंकार भी अनन्त अवयवों से सम्पन्न है।

विराट् प्रणव सगुण तथा संहार प्रणव निर्गुण है। सृष्टि प्रणव का सम्बन्ध सगुण-निर्गुण दोनों से है। विराट् प्रणव अकारादि चार मात्राओं की समष्टि से युक्त है और संहार प्रणव चतुर्थमात्रात्मक तथा अर्द्धमात्रात्मक है।

वह न स्थूल है, न सूक्ष्म है, न न्यून है, न अधिक है, न बाहर है, न भीतर है, न प्रज्ञान रूप है, न आँखों से देखा जा सकता है, न कोई रूप है, न अरूप है. न पकड़ने योग्य है, न व्यवहार में आने योग्य, न परिभाषा में आता है, न ध्यान में न प्रपंचयुक्त है, न प्रपंच से परे है, उस ओंकार रूप ब्रह्म का स्वरूप आत्म-सत्ता का विश्वास मात्र ही है। वह अद्वितीय एवं परम कल्याणमय तत्व है। यह परम ब्रह्म होने से ही प्रतिष्ठित है। यही ओंकार ब्रह्म मोक्ष के अभिलाषियों का एक मात्र आश्रय है।'

ब्रह्माजी ने नारद को जो उपदेश दिया, उस पर विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि ओंकार के समान अन्य कोई सत्ता नहीं, जिसमें इतनी शक्ति सामर्थ्य समाविष्ट हो। शुक रहस्योपनिषद् में भी ओंकार के विषय में निम्न वृत्तान्त मिलता है—

एक समय की बात है अनेक देवऋषि ब्रह्मलोक में पहुँचे और उन्होंने भक्तिभाव पूर्वक ब्रह्माजी का पूजन किया। इससे प्रसन्न हुए ब्रह्माजी ने उनसे पूछा—'ऋषिगण! अपने आगमन का अभिप्राय कहिये।'

ऋषियों ने निवेदन किया—'पितामह! कृपया हमारे प्रति उस गूढ़ तत्व का उपदेश कीजिये, जो उपनिषदों में कहा गया है।'

ब्रह्माजी बोले—तुमने जो प्रश्न किया है, वही एक बार तपोनिष्ठ वेदव्यास ने भगवान् शंकर से किया था और अपने पुत्र शुकदेव को दीक्षा देने की भी प्रार्थना की थी।

भगवान् शंकर ने वेद व्यास की प्रार्थना स्वीकार करली। उन्होंने शुकदेव को दीक्षा दी और ज्ञानोपदेश किया। उन्होंने महावाक्यों का उपदेश करते हुए कहा—महावाक्य चार हैं प्रज्ञान ब्रह्म, अहं ब्रह्मास्मि, तत्वमसि और अयमात्मा। इन सब के साथ ओंकार संयुक्त है। प्रत्येक के आदि में ओंकार और फिर महावाक्य।

इन महावाक्यों में प्रथम से अभेद का प्रतिपादन होता है। वह सायुज्य मोक्ष का देने वाला है। प्राणी जिसके द्वारा देखता, सुनता, कहता और स्वाद ग्रहण करता है, वही प्रज्ञान है। ब्रह्मा, इन्द्र, सभी देवता, मनुष्य, अश्वादि पशु और अन्य सभी प्राणियों में एक ही चेतन तत्व ओंकार रूप से अवस्थित है। वही मुझ (शिव) में भी विद्यमान है, इसलिये उसे प्रज्ञान कहते हैं।

दूसरा महावाक्य साक्षिरूप से ब्रह्म का प्रतिपादन करने वाला है। 'अहं' पद बुद्धि द्वारा ब्रह्म के स्फुरण का और 'अस्मि' पद एकीभाव का बोध कराने वाला है। इस प्रकार ओंकार के 'अहं ब्रह्मास्मि' महावाक्य से आत्मा-परमात्मा के अभेद का बोध होता है।

'तत्वमसि' महावाक्य ओंकार की विशिष्ट सत्ता का प्रतिपादन करता है। सृष्टि से पूर्व द्वैत-रहित तथा नाम-रूप से शून्य जो सत्ता थी वह ओंकार ब्रह्म रूप 'तत्' पद से प्रतिपादित हुई। श्रोता का इन्द्रियों स परे जो शरीर है, वह त्वं पद है। 'असि' पद से 'तत्' और 'त्वं' पदों के वाच्यार्थ ब्रह्म और जीव के एकत्व का बोध होता है।

'अयं' पद के द्वारा ओंकार के स्वयं प्रकाशित रूप का वर्णन हुआ है। अहंकार से शरीर पर्यन्त प्रत्यगात्मा कहा जाता है, किन्तु इस सम्पूर्ण दृश्य जगत् में स्थित व्यापक तत्व ही ब्रह्म है, वही ओंकार रूप, आत्मरूप और स्वयं प्रकाश है।'

इस प्रकार ओंकार रूप ब्रह्म ही है परमात्मा ही, वहीं जीवात्मा है। आत्मा-परमात्मा में कुछ भी भेद नहीं है। यह उक्त चारों महावाक्यों का निष्कर्ष है। उपनिषत्कार ने उक्त उपदेश के द्वारा आत्मा, परमात्मा और ओंकार तीनों में अभेद-की स्थापना स्वीकार की है। सभी उपनिषदों की मान्यता यह है।

———

मन की शान्ति का अचूक साधन ओंकार

अशान्त मन अनेक दुष्प्रवृत्तियों का कारण हो सकता है। ईर्ष्या द्वेष, विक्षोभ, क्रोध, प्रतिशोध-भाव, हीनता का अनुभव आदि अभिव्यक्तियाँ अशान्त मन के ही कारण होती हैं। दूसरों का वैभव देख कर इच्छा होती है कि 'हम भी ऐसा वैभव क्यों न प्राप्त कर सके ?' और कुछ नहीं तो उस वैभवशाली व्यक्ति की हानि पहुँचे, ऐसी कामना होने लगती है। इसी को ईर्ष्या कहते हैं। यद्यपि उससे अपना कोई हित-साधन नहीं हो सकता, फिर भी मन उधर दौड़ता है तो शान्ति नष्ट हो हो जाती है।

अन्य प्रवृत्तियाँ भी इसी प्रकार उत्पन्न होती हैं। मनुष्य उनका कारण तो समझ नहीं पाता, निरर्थक कामनाओं को करता हुआ अशांति की अग्नि में दग्ध होता रहता है।

यह तथ्य बताया जा चुका है कि मनुष्य का भाग्य उसके अपने ही पूर्व कर्मानुसार बनता है। संचित कर्म जब प्रारब्ध के साथ जुड़ जाते हैं तब अनेक प्रकार के दुःख भोगने होते हैं। उन दुखों से बचने का उपाय मन में अशान्ति रखना नहीं है। यदि अशान्ति रखोगे तो उसका परिणाम कुछ अच्छा नहीं निकलने वाला है। उनसे तो उलटे हानि ही उठानी पड़ सकती है।

अशान्ति रहती है तो मनुष्य अपनी उन्नति नहीं कर सकता। उसका चित्त ही नहीं लगता किसी कार्य में, उससे वर्तमान और भविष्य दोनों ही बिगड़ जाते हैं।

मत सोचो कि अमुक व्यक्ति के पास उतना धन-वैभव, सन्तान और यश-मान क्यों है ? मत सोचो कि उसके धनादि का क्षय कैसे हो ? वस्तुत: उसके पास जो कुछ भी है, वह उसके पूर्व कर्मों का ही फल है। जब तक उसके शुभ कर्मों का फल शेष है, तब तक उसका क्षय हो ही नहीं सकता।

इसके विपरीत, जब शुभ कर्मों का फल-भोग पूर्ण होजाता है, तब उसके धनादि का भी ह्रास होजाता है। बहुत-से धनवानों को देखते हैं जो कुछ ही समय में कंगाल होगये। बहुत-से कंगाल देखते-देखते ही धनवान बन गये। बहुतों ने धनवानों के घरों में जन्म लिये, किन्तु व्यस्कावस्था पर पहुँचते-पहुँचते उन घरों से धन विलीन होगया।

इस प्रकार किसी की सम्पत्ति पिता के साथ चली जाती है तो किसी की माता के साथ। किसी की पत्नी के साथ तो किसी की पुत्र के साथ। उससे यह समझना सरल है कि जिसके मरते ही सम्पत्ति नष्ट होगई, वह मरने वाले व्यक्ति शुभ फल भोग के कारण ही थी। उसकी मृत्यु के बाद सम्पत्ति इसलिये नहीं रही कि जीवित व्यक्तियों का प्रारब्ध उसके अनुकूल नहीं है।

परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि हम प्रारब्ध के ही भरोसे बैठे रहें और कुछ उपाय न करें। ध्यान रखिये कि पुरुषार्थी मनुष्य प्रारब्ध को भी बदलने में सफल हो जाते हैं। यह कोई बहुत कठिन कार्य भी नहीं है। बस, मन में लगन होनी चाहिए उसकी। आत्मविश्वास होना चाहिए कि मैं यह कार्य अवश्य ही सम्पन्न कर सकता हूँ।

आत्मविश्वास एक बहुत बड़ा बल है। जब इसे साथ रखते हैं कार्य के समय तो यह एक महान् साधन, महान् सम्बल का रूप धारण कर लेता है। इसीलिये इसे आत्मबल कहते हैं। इसके समान शक्तिशाली अन्य कोई भी बल नहीं है।

परन्तु मनोभूमि के दृढ़ होने पर ही आत्मबल अभिव्यक्त होता है। मनोभूमि दृढ़ नहीं तो आत्मबल ठहरेगा कहाँ ? उसका आधार क्या होगा ? पुराण की कथा है कि जब पृथिवी अधिक भारी होगई तो जल में समा गई, फिर सर्वत्र जल ही जल दिखाई देता था। जब सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा ने सृष्टि उत्पन्न करते का विचार किया तो ध्यान आया कि पृथिवी तो डूबी हुई है पानी में, जो सृष्टि उत्पन्न होगी वह ठहरेगी किस पर ?'

तभी ब्रह्माजी को छींक आगई और नाक से निकल पड़े वराह भगवान्। शूकर वेशधारी परमात्म, जिन्होंने जल में घुस कर पृथिवी को खोज लिया। उनके उस कार्य में बाधा डाली हिरण्याक्ष नामक दैत्य ने, जिसका उन्होंने वध कर डाला।

वे जान रहे थे कि पृथिबी अभी भी अधिक बोझिल है, इसलिये वे उसे अपनी दाँढों से पकड़े रहे। जब दैत्य मारा गया तब देवताओं ने प्रार्थना की—'प्रभो ? इस पृथिबी को जल पर टिका दीजिये। जब आप जल को बल प्रदान करेंगे तब वह भी इसे धारण करने में समर्थ हो जायगा।'

वराह भगवान् ने जल को सामर्थ्य देकर पृथिवी को उस पर टिका दिया। वस्तुतः यह वृत्तान्त ब्रह्माजी के आत्मबल को व्यक्त करता है। उनका आत्मबल ही वराह रूप में प्रकट हुआ, उसी आत्मबल से उन्होंने पृथिवी को जल से निकाला, उसी से हिरण्याक्ष रूपी विघ्न को दूर किया और उसी से जल को पृथिवी के धारण योग्य बन कर उसे उस पर टिका दिया।

वस्तुतः एक अव्यक्त ब्रह्म के व्यक्त रूप अनंत हैं। ब्रह्मा, विष्णु, शिव ब्रह्म के ही व्यक्त रूप हैं। वही मत्स्य, कच्छप, वराह, नृसिंह, वामनादि के रूप में प्रकट है। वही ओंकार अथवा प्रणव है। श्रीमद्

भागवत में कहा हैं—'जब परमेष्ठी ब्रह्मा ने अपनी चित्तवृत्तियों का निरोध किया, तब उनके हृदयाकाश में नाद सुनाई दिया। जिसकी उपासना से योगीजन अपने समस्त मलों को शुद्ध करके मोक्ष प्राप्त करते है। वही नाद अकार, उकार, मकार युक्त ओंकार है। वही अव्यक्त ब्रह्म तथा स्वराट् है, वही परमात्मा का प्रतीक है।'

शिव पुराण में 'शिवो वा प्रणवो ह्येष प्रणवो वा शिवःस्मृतः कह कर शिव और प्रणव का ऐक्य प्रतिपादन किया गया है। वायु पुराण ने 'ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म गुहायां निहितं पदम्' कह कर स्पष्ट किया है कि 'ओ३म्' रूप एकाक्षर ब्रह्मपद गुहा में निहित है।' पद्मपुराणकार का मत है—

यावज्जीवं जपेन्मन्त्रं प्रणवं ब्रह्मणो वपुः।
ह्रस्वो दहति पापानि दीर्घं शान्ति प्रदायकः।
प्लुतस्तु सर्वसिद्धिः स्यात्प्रणवास्त्रिविधि स्मृतः॥

अर्थात्—जब तक जीवन रहे, तब तक प्रणव का जप-स्मरण करता रहे। प्रणव का मन्द स्वर से किया जाने वाला (उपांशु) जप समस्त पाप-बीजों का नाश कर देता है। प्रणव का दीर्घ स्वर (तार स्वर) से किया जाने वाला संकीर्तन शान्ति का देने वाला है तथा प्लुत उच्चारण (मानसिक जप) से सभी मनोरथों की सिद्धि होती हैं। इस प्रकार प्रणव की साधना के तीन प्रकार कहे जाते हैं।

———

ओंकार है शान्ति का द्वार

ओंकार सुख-शान्ति का सर्वोत्कृष्ट साधन है। यह महान् शक्ति सामर्थ्य का देने वाला तथा विषाद, अवसाद, तनाव आदि को नष्ट करने वाला है। इसके जप और कीर्तन से मन में पवित्रता का समावेश होता है और इसकी वृत्तियाँ आनन्द की ओर तीव्रगति से उन्मुख होती हैं।

ओंकार-संकीर्तन से अन्तर्मन की सोयी हुई शक्तियाँ जाग उठती हैं। शरीरस्थ रस-ग्रन्थियों का पोषण होता है तथा उनका स्राव समुचित मात्रा में होने लगता है। शरीर में विद्यमान अन्तर्शक्तियाँ जो सुप्त पड़ी रहती हैं, ओंकार के जप-कीर्तन के प्रभाव से जाग उठती हैं।

शारीरिक स्वास्थ्य पर इसका बहुत अनुकूल प्रभाव पड़ता है। दुर्बलता और रोग दूर होते हैं, यदि बेडौलपना होता है तो वह भी दूर होकर शरीर सुगठित हो जाता है। यह कोई निरीकपोल-कल्पना नहीं है। एक अनुभवी महात्मा ने इस विषय में हमें बताया था कि 'जब ओंकार का सामूहिक संकीर्तन चलता है, तब मन का योग उसकी स्वर लहरी से होता है, जिसके कम्पनों का प्रभाव शरीर के प्रत्येक अंग, प्रत्येक अवयव तथा प्रत्येक धातुओं पर पड़ता है। उसके कारण सभी अंग और अवयव अधिक गतिमान होजाते हैं। रक्त-संचार की अनियमितता दूर होजाती है और शरीर में स्फूर्ति आने लगती है।

इसी प्रकार जप का भी प्रभाव पड़ता है। संकीर्तन से वाह्य भाग और जप से आन्तरिक भाग अधिक प्रभावित होते हैं। जो लोग इसका प्रभाव देखना चाहें, वे धैर्य पूर्वक कुछ करके देखें। किन्तु आहार-विहार में संयम रखें। यदि कुछ दिनों तक निररन्तर संयम रख सके आहार-

विहार पर और ओंकार के जप या कीर्तन के परायण रहे तो देखोगे कि एक अभूतपूर्व सुख का अनुभव हो रहा है।'

जिन महात्मा ने यह बात बताई थी, वे अधिक वृद्ध होते हुए भी सबल, सुगठित शरीर के दिखाई देते थे। उनके मुख पर सदा ही प्रसन्नता का भाव रहता था। हमने जब भी उन्हें देखा, प्रसन्न ही पाया। कभी किसी प्रकार का क्षोभ तो देखा ही नहीं। उनके निकट के व्यक्ति कहते थे कि महात्माजी को क्रोध तो कभी आता ही नहीं।

वस्तुतः यह ओंकार साधना का ही प्रभाव था। ओंकार साधना मनुष्य की कुप्रवृत्तियों को पूर्ण रूप से नष्ट कर देने में समर्थ है। यह साधना सरल भी बहुत है। आप चलते-फिरते, सोते-बैठते, खाते-पीते, किसी भी समय ॐ का उच्चारण कर सकते हैं। इसमें किसी प्रकार का निषेध नहीं है।

सुख की इच्छा सभी को रहती है, किंतु कितने हैं जो सुख का अनुभव करते हैं। वैसे सुख और दुःख मानना मन पर ही विशेष रूप से निर्भर है। मन जिस क्रिया को दुःख मान ले वही दुःख और जिसे सुख मान ले वही सुख है। कहते हैं कि एक बार अल्प वयस में ही सरदार पटेल की आँख का ऑपरेशन अपेक्षित था। डॉक्टरों ने जब बेहोशी की दवा देनी चाही, तब उन्होंने उन्हें रोक दिया। बोले—'आप निश्चित होकर ऑपरेशन करें, मैं जरा भी हिलूँ डुलूँगा नहीं।' डॉक्टरों ने उन्हें बहुत समझाया कि 'बड़ा कष्ट होगा इसमें' किन्तु पटेल ने बिना दवा सुँघाए ही ऑपरेशन करने का आग्रह किया। विवश डॉक्टरों ने वैसा ही किया। पटेल ने ऐसा कुछ भी न दिखाया कि उन्हें कुछ भी कष्ट हो रहा हो। सभी को आश्चर्य था और तभी से उनको लौह पुरुष कहा जाने लगा था।

इससे सिद्ध है कि मन जिसे कष्ट मान ले वही कष्ट है, उसका आत्मा से कोई सम्बन्ध नहीं। सुख-दुःख का अनुभव मन ही करता है।

उसे सरदार पटेल के समान सुदृढ़ बनाया जाना भी सम्भव है। यदि आप मन को सुदृढ़ बनाने में सफल हो गए को दुःख का अनुभव ही शेष न रहेगा।

मन को सुदृढ़ बनाने के लिए ओंकार को साधन बनाइए, उसकी जैसे-जैसे साधना करते चलोगे, वैसे-वैसे ही सुख शांति के द्वार प्रशस्त होते जाएँगे। यदि सुख-शांति चाहते हो तो ओंकार का आश्रय लीजिए, उसी का जप, सङ्कीर्तन कीजिए और मन को लगा दीजिए ओंकार के ही ध्यान में, आपकी अभिलाषा पूरी हो जायगी। पाएँगे कि आप सफल हो गए हैं अपनी साधना में निश्चय ही आपको निराश नहीं होना पड़ेगा। शास्त्र का कथन है—

अदृष्ट विग्रहो देवो भाव ग्राह्यो मनोमय: ।
तस्योंकार: स्मृतो नाम: तेनाहूत: प्रसीदति ।।

अर्थात्—ईश्वर अदृष्ट विग्रह (न दिखाई देने वाला) है, उसका साक्षात् मनोमय भावों से ही हो सकता है। उसका ओम् नाम कहा जाता है। वह परमात्मा ओम् नाम द्वारा आहूत होने पर ही प्रसन्न होता है।

यदि परमात्मा की प्रसन्नता प्राप्त करनी है तो ओंकार का जप करो। ओंकार ही परमात्मा का सर्वश्रेष्ठ नाम है। वह अक्षरमय, नादमय और स्वरमय है। विश्व की समस्त क्रियाएँ उसी में समाविष्ट हैं। उसके बिना कहीं कुछ भी नहीं है।

मन का लय भी उसमें शीघ्र हो सकता है, क्योंकि मन का अक्षर, नाद और स्वर से भी सीधा सम्बन्ध है। मन अक्षर की बार-बार आवृत्ति (जप का निरन्तर अभ्यास) करता रह सकता है। शब्द और स्वर में वह भले प्रकार लीन हो जाता है। कोई प्रीति का गीत गाइए, वह गीत जो मन को अच्छा लगे तो आप देखेंगे कि मन उसमें डूबता

जा रहा है। जब उस सङ्गीत में तारतम्य अधिक रहता है, तब मन को होश कहाँ ? क्योंकि वह तो उस समय सुखानुभूति में मग्न रहता है।

इसलिए सुख-शांति की कामना वालों को ओंकार का ही जप-सङ्कीर्तन करना चाहिए। समस्त सुखों, समस्त आनन्दों का आश्रय स्थान ओंकार ही है तो अन्यत्र शांति मिलेगी भी कहाँ ? इसीलिए हम ओंकार को ही शांति का द्वार अथवा परम स्थान मानते हैं।

ओंकार की साधना विधि

ओंकार की ब्रह्म सन्ध्या

ओंकार की दैनिक जप साधना सन्ध्या वन्दन के बाद की जाती है। अपनी रुचि और मान्यता के अनुसार किसी भी विधि की सन्ध्या को स्वीकार किया जा सकता है। परन्तु ओंकार की ब्रह्म सन्ध्या विशेष उपयोगी रहती है। शास्त्रों में त्रिकाल सन्ध्या करने का विधान मिलता है। प्रातः व सायंकाल दो समय भी करली जाय तो उत्तम हैं। इसकी भी सुविधा न हो तो प्रातःकाल एक समय तो करनी ही चाहिए। ब्रह्म-मुहुर्त में उठकर शौच स्नानादि से निवृत्त होकर धुले हुए पवित्र वस्त्र धारण करके साधना पर बैठना चाहिए। प्रातः पूर्व की ओर, सायं पश्चिम की ओर व दोपहर को उत्तर की ओर मुख करना चाहिए। कुश का आसन श्रेष्ठ माना गया है क्योंकि इससे साधना द्वारा उपार्जित शक्ति का पृथ्वीकरण नहीं हो पाता, स्थान एकान्त व शान्त होना चाहिए। वहाँ का वातावरण स्वच्छ व पवित्र हो। शरीर पर कम से

कम वस्त्र हों, शीत ऋतु में कम्बल या शाल ओढ़ लेनी चाहिए। गर्मी में एक धोती पर्याप्त है। हाथ पोंछने के लिए कन्धे पर अंगोछा रख लेना चाहिए। संध्या के स्थान को नित्य प्रति धो लिया जाए तो अच्छा है। धूप, अगरबत्ती जला देने चाहिए ताकि वातावरण सुगन्धित हो जाए। पंचपात्र में जल भरकर रख लें। पालथी मालकर मेरुदण्ड को सीधा रखकर संध्या के लिए बैठे। विधान इस प्रकार है :—

(१) पवित्री करण—बाँये हाथ में जल लेकर दाँये हाथ से उसे ढक लें और ६ बार ओंकार का उच्चारण करने के बाद दाये हाथ से इसे मस्तक और सिर पर छिड़कें। भावना करें कि हमारा स्थूल व सूक्ष्म शरीर दोनों पवित्र हो रहे हैं और सभी प्रकार की अपवित्रताएँ हमारे शरीर से बाहर जा रही हैं।

(२) आचमन—दाँये हाथ की हथेली में थोड़ा जल लेकर ३ बार आचमन करें। प्रत्येक आचमन के साथ ३ बार ओंकार का उच्चारण हो। प्रथम आचमन के साथ सतोगुणी, दूसरे आचमन के साथ रजो-गुणी और तीसरे आचमन के साथ तमोगुणी शक्तियों को जल में प्रविष्ठ होने की भावना करें। त्रिविध शक्तियों का आवाहन इसलिए किया जाता है कि गृहस्थ में इन सभी प्रकार की शक्तियों की आव-श्यकता रहती है। कन्धे पर रखे अंगोछे से हाथ मुँह पोंछ लें।

(३) शिखा बन्धन—शिखा को जल से भिगोकर उसमें गाँठ लगा लें। गाँठ लगाते हुए ओंकार का ६ बार उच्चारण करें और यह भावना करें कि मस्तिष्क के विद्युत भण्डार में हर समय सकल्प और शक्ति परमाणु जो बाहर निकलकर आकाश में उड़ते रहते हैं, उन पर ताला लगा दिया है। जो शक्ति साधना में उपार्जित होगी, वह सुर-क्षित रहेगी और उसका आकाशीकरण न हो पायगा।

(४) प्राणायाम—इस क्रिया से विश्व व्यापी प्राण तत्व को अपनी

ओर खींच कर धारण किया जाता है। मेरूदण्ड को सीधा करके किसी भी सुविधा जनक आसन से बैठे।

दाँये हाथ के अँगूठे से दाँयी नासिका को वन्द करके ॐ का आठ बार मानसिक जप करें। जप करते हुए वाँयी नासिका से श्वास खींचें अथवा पूरक करें। अनामिका (अँगूठे से चौथी अगुली) और मध्यमा (अँगूठे से तीसरी अँगुली) से बाँयी नासिका को बन्द करके ॐ का ३२ बार मानसिक जप करते हुए कुम्भक करें। इसके बाद ॐ का १६ बार मानसिक जप करते हुए दाँयी नासिका से श्वास छोड़ें अथवा रेचन करें। इसी तरह से दूसरी नासिका से भी किया जा सकता है। यह एक प्राणायाम की विधि है। संध्या में पाँच प्राणायाम करने का विधान है। इतने न हो सकें तो एक अथवा तीन प्राणायाम किये जा सकते हैं।

श्वास को भीतर खींचते समय भावना करें कि श्वास के साथ विश्व व्यापी चैतन्य प्राण शक्ति मेरे भीतर प्रविष्ट हो रही हैं। कुम्भक करते समय यह भावना करें कि तेजस्वी प्राण शक्ति को भीतर खींचने से चारों ओर शक्ति का संचार हो रहा है, और मैं शक्ति का पुञ्ज बनता जा रहा हूँ। रेचक के समय भावना करें कि सतोगुणी शक्तियों के आगमन से मेरे पापों का विनाश हो रहा है और श्वास के साथ वे बाहर निकलते जा रहे हैं। इन पवित्र भावनाओं के साथ किया गया प्राणायाम अपेक्षाकृत अधिक लाभदायक रहता है। भावना की दृढ़ता पर इसका लाभ निर्भर करता है। आधुनिक मनोविज्ञान ने भी इस तत्व को स्वीकार किया है।

(५) न्यास—इसका अर्थ है—धारण करना। अङ्ग-प्रत्यङ्ग में सतोगुणी शक्ति को स्थापित करने के लिए न्यास की क्रिया की जाती है। बाँये हाथ की हथेली में जल लें। दायें हाथ के अँगूठे और अना-

मिका अँगुली को मिलाकर भिगोय और नीचे लिखे मन्त्र भागों में जैसे संकेत नीचे दिये गये हैं, उस मन्त्र के उच्चारण के साथ संकेतिक अङ्ग को स्पर्श करें कि वे अंग शक्तिशाली व पवित्र बन रहे हैं :—

(क) ॐ ॐ ॐ मूर्धाय नमः।

(ख) ॐ ॐ ॐ नेत्राभ्यां नमः।

(ग) ॐ ॐ ॐ कर्णाभ्यां नमः।

(घ) ॐ ॐ ॐ मुखाय नमः।

(ङ) ॐ ॐ ॐ कण्ठाय नमः।

(च) ॐ ॐ ॐ हृदयाय नमः।

(छ) ॐ ॐ ॐ नाभ्यै नमः।

(ज) ॐ ॐ ॐ हस्तपादाभ्यां नमः।

(६) दीर्घ ओंकार ध्वनि—तीन, छः अथवा बारह बार दीर्घ प्रणव की ॐ ध्वनि का उच्च स्वर से उच्चारण करना चाहिए। यह लम्बी ध्वनि मन को सांसारिक विषयों से मुक्त कर गंगा जल की भांति स्वच्छ और पावन कर देती है। भागवत में ओंकार के उच्चारण की विधि का वर्णन करते हुए कहा गया है—

"दीर्घघण्टानिनदवत्"

घण्टे पर चोट मारने और छोड़ देने पर देर तक एक लम्बी ध्वनि का आभास होता रहता है। ऐसे ही एक पूरे श्वांस में एक बार ओंकार का उच्चारण करना चाहिए।

ओंकार के इस उच्चारण की काकवाणी से भी संज्ञा दी जाती है। ऐसा अनुभव किया गया है कि कौआ जब कांव-कांव करता है तो गुदा तक शब्द का स्पन्दन होता है, उसी तरह आचार्यों का निर्देश है कि ओंकार का उच्चारण दीर्घ घण्टा नाद की तरह तो होना ही चाहिए परन्तु उसके शब्दों का स्पन्दन मूलाधार चक्र से उठना चाहिए। इस

उच्चारण में साधक की परम श्रद्धा होनी चाहिए। जैसे भगवान का कीर्तन करते समय साधक मस्ती में झूमता है, वैसे ही यह उच्चारण मस्ती से ओत-प्रोत हो और श्रोता को अत्यन्त कर्ण प्रिय लगे। दीर्घ घण्टा नाद की तरह ओंकार के उच्चारण की ध्वनि नाभि से आरम्भ होकर कण्ठ की ओर चढ़ती अनुभव हो, ध्वनि के साथ यह भावना करनी चाहिए कि मेरे ओंकार उच्चारण से वह ध्वनि सारे विश्व में फैल रही है और अणु-अणु से वह ध्वनि प्रस्फुटित हो रही है। ऐसा लग रहा है जैसे सारा विश्व ओंकार का पवित्र उच्चारण कर रहा है, उस विराट ब्रह्म की उपासना कर रहा है। उस विराट ब्रह्म की उपासना करते करते सारे विश्व में ओंकार ध्वनि को भरने की भावना से साधक को अपार आनन्द की अनुभूति होती है।

यह ओंकार की ब्रह्म सन्ध्या है।

जप विधि

ओंकार की ब्रह्म सन्ध्या के बाद ही जप का विधान है। साधना स्थल पर ओंकार के साकार विग्रह अथवा चित्र की स्थापना करें और धूप, दीप, नैवेद्य, अक्षत, पुष्प आदि उपलब्ध पूजन सामग्री से पूजन करें। निराकार उपासक ओंकार के अक्षर चित्र अथवा अग्नि को ओंकार का प्रतीक मानकर घृत दीपक व धूप अगरबत्ती की स्थापना कर लें। अब जप प्रारम्भ कर दें। जप की गिनती अँगुलियों अथवा माला दोनों के ही द्वारा की जा सकती हैं। जप इस प्रकार से करना। चाहिए कि मन्त्र का उच्चारण होता रहे, होठ हिलते रहें परन्तु पास बैठा व्यक्ति भी उसे सुन न सके। इसे उपांशु जप कहते हैं। शास्त्रों में उपांशु से मानसिक जप के लाभ सौ गुना अधिक बताये गये हैं। अतः जब कुछ दिन उपांशु जप का अभ्यास हो जाय तो उसके बाद मानसिक जप किया जा सकता है।

प्रत्येक साधक को कम से कम ३ माला का जप तो करना ही चाहिए। आरम्भ में एक माला (१०८ मन्त्र) के जप में एक मिनट लगता है। अभ्यास होने पर एक माला ४५ सैकिण्ड में की जा सकती है। जिन्हें सुविधा और रुचि हो, वे ६, १२, २७, ५४ अथवा १०८

माला का जप नित्य प्रति कर सकते हैं। ओंकार की महान शक्ति को शीघ्र विकसित करने के लिये विशेष नियमों का पालन करते हुए अनुष्ठान किया जा सकता है। यह नवरात्रि अथवा किसी भी शुभ अवसर कर लिया जाय। लघु अनुष्ठान ९ दिनों में सवा लाख मन्त्र जप का होता है। साधना में कुछ त्रुटियाँ रहना स्वाभाविक है, कुछ मन्त्रों का उच्चारण अधूरा, गलय व त्रुटिपूर्ण रह सकता है। अत्यन्त सावधानी बर्तने पर भी यह हो जाता है। अतः अनुमान से १०८ में से ८ मन्त्र त्रुटिपूर्ण मानकर केवल १०० मन्त्रों की ही गिनती की जाती है। इस तरह से सवा लाख मन्त्र जप में १२५० मालाओं का जप करना होता है। एक दिन में १३९ माला का जप होने पर ९ दिन में अनुष्ठान पूरा हो जाता है। १३९ माला जप में केवल पौने दो घण्टे का समय लगता है। ९ दिनों में तीन लाख मन्त्र जप का अनुष्ठान भी किया जा सकता है। तीन लाख मन्त्र के लिए तीन हजार मालाओं का जप करना होगा। नित्यप्रति ३३४ माला का जप करने से ९ दिन में यह अनुष्ठान पूर्ण हो जायगा। ३३४ माला जप में ५ घण्ठे का समय लगेगा। यदि प्रातःकाल ५ घण्टे के समय की सुविधा न हो तो शेष जप सायंकाल को भी पूरा किया जा सकता है। अच्छा तो यही रहेगा कि अधिकाँश जप प्रातः काल ही पूरा किया जाय, ध्यान रहे सायंकाल को साधक कामुख पश्चिम की ओर होना चाहिए।

ध्यान

जप करते हुए साकार उपासक भगवान ओंकार के साकार विग्रह का ध्यान करें और यह कल्पना करें कि वे आकाश में सूर्य की तरह तेजोमय मण्डल में स्थित हैं, ये मूर्ति कल्पना नेत्रों से बार-बार ओझल हो जायगी। भगवान ओंकार के अङ्ग प्रत्यङ्ग को श्रद्धा पूर्वक निहार कर पुनः पुनः ध्यान करना चाहिए। बार-बार के अभ्यास से एक समय आयगा जब भगवान ओंकार का चित्र स्पष्ट रूप से अन्तर्नेत्रों से दिखाई देने लगेगा। निराकार उपासक सफेद कागज पर काली स्याही से ॐ लिखकर, टिन प्लेट की सफेद भूमि पर काले रङ्ग में सुन्दर रूप से ॐ लिखवाकर अथवा छपे हुए ॐ के चित्र का ध्यान कर सकते हैं। अग्नि को ॐ का प्रतीक मानकर ज्योति का ध्यान भी किया जा सकता है।

नये साधक यदि आरम्भ में त्राटक करें तो ध्यान की स्थिरता शीघ्र ही प्राप्त की जा सकती है, त्राटक के लिए ॐ के चित्र को लगभग २ फीट की दूरी पर रखकर खुले नेत्रों से पलकों को बिना झपकाये देखते रहना चाहिए। इस प्रक्रिया में नेत्रों में कुछ भी तनाव नहीं आना चाहिए। चंचल मन वाले व्यक्ति नेत्रों को अधखुला रख सकते हैं। कुछ समय के बाद नेत्र ॐ के चित्र पर स्थिर होने लगेंगे। स्थिरता के साथ जप रुक जायगा। इसे आरम्भिक सफलता का चिन्ह मानना चाहिए।

अर्थ चिन्तन

जप के साथ अर्थ चिन्तन भी किया जा सकता है। इससे इष्टदेव के गुण रूप का एक सजीव चित्र बन जाता है, जो कालान्तर में संस्कार का रूप ग्रहण कर लेता है और पूर्व संस्कारों का शमन करता है। ओ३म् में ३ अक्षर हैं—अ', 'उ', 'म'। से उत्पत्ति, 'उ' से स्थिति और 'म' से प्रलय का अर्थ है। जप के समय इन्हीं अर्थों का चिन्तन करना चाहिए। मन्त्र जप से जो एकाग्रता और शक्ति उत्पन्न होती है, उससे इन स्थितियों को अपने अन्तःकरण में स्थापित करने से सहायता मिलती है और धीरे-धीरे साधक उस मन्त्र का साक्षात् रूप होता जाता है। यही सिद्धि के लक्षण हैं। योग दर्शन १।२८ में इस तथ्य का समर्थन करते हुए लिखा गया है कि मन्त्र का जप और अर्थ विचारने से समाधि लाभ होता है।

जप साधना के बाद उच्च स्वर से ओंकार चालीसा का पाठ श्रद्धा-पूर्वक करना चाहिए। इसके बाद पास में रखे हुए दीपक से भगवान ओंकार की आरती करनी चाहिए।

मन्त्र लेखन

जप की तरह मन्त्र लेखन का भी अपना विशिष्ट स्थान है। जो व्यक्ति आसन पर बैठ कर मूर्ति अथवा चित्र की साधना में रुचि नहीं रखते हैं अथवा जिन्हें प्रातः और सांय निश्चित समय पर साधना की सुविधा नहीं रहती, लेखन साधना किसी भी सुविधा के समय हाथ, नेत्र, और मस्तिष्क आदि सभी इन्द्रियां एक जुट होकर साधना में लीन रहती हैं। इसलिये यह साधना शीघ्र फलदायक होती है। विद्यार्थियों

के लिए तो यह विशेष रूप से उपयोगी है स्कूली साइज की कापी में किसी भी स्याही से ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ..................लिखा जा सकता है। इस साधना के लिए कोई विशेष नियम या प्रतिबन्ध नही है। जब समय की सुविधा हो २७, ५२ अथवा १०८ मन्त्र लिखे जा सकते हैं। १०८ मन्त्र लेखन में लगभग पाँच मिनट का समय लगता है। २४००० मन्त्र लेखन का एक लघु अनुष्ठान होता है जिसे ९ दिनों में किया जा सकता है। एक दिन २६६७ मन्त्र लिखने होते हैं, जिसे २ घण्टे में पूरा किया जा सकता है वैसे तो किसी भी शुभ तिथि में आरम्भ किया जा सकता है परन्तु चैत्र व आश्विन की नव रात्रियाँ इस साधना के लिये विशेष उपयोगी रहती हैं।

ओंकार चालीसा पाठ

मन्त्र जप के बाद चालीसा पाठ करना चाहिए। जिन्हें विधि पूर्वक निश्चित समय पर जप साधना की सुविधा न हो, वे चालीसा पाठ कर सकते हैं। मन्त्र लेखन की तरह इसके लिए भी किसी विशेष विधि विधान के पालन की आवश्यकता नहीं है। किसी भी समय हाथ मुँह धोकर पाठ किया जा सकता है। नित्यप्रति १, ३, ९ चालीसा का पाठ किया जा सकता है। नवरात्रि व किसी भी अन्य शुभ अवसर, ९ दिनों में २४० चालीसा के पाठ का अनुष्ठान करने से विशेष लाभ होगा।

ओंकार कीर्तन

जप के बाद या किसी भी समय निम्न कीर्तन किया जा सकता है :—

ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ
ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ
ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ
भज मन ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ

इस कीर्तन का उच्च स्वर से गायन करना चाहिए। इस प्रकार गाने से एक बार में २६ बार 'ॐ' का उच्चारण व जप हो जाता है। गायन की सुन्दर ध्वनि से मन सर्वथा प्रसन्न रहता है। धार्मिक कार्यक्रमों में इसे सामूहिक रूप से भी गाया जा सकता है।

॥ समाप्त ॥

अ. भा. ओंकार परिवार की स्थापना



ॐ परमात्मा का सर्वश्रेष्ठ व स्वाभाविक नाम हैं। इसे मन्त्र शिरोमणि, मन्त्र सम्राट, मन्त्र राज, वीजमन्त्र और मन्त्रों का सेतु आदि उपाधियों से विभूषित किया जाता है। इसे श्रेष्ठतम् महानतम् और पवित्रतम् मन्त्र की संज्ञा भी दी जाती है। सारे विश्व में इसकी तुलना का कोई मन्त्र नहीं हैं। ॐ सभी मन्त्रों को अपनी शक्ति से भावित करता है। सभी मन्त्रों की शक्ति ओंकार की ही शक्ति है। यह शक्ति और सिद्धिदाता हैं। भौतिक व आत्मिक उत्थान के लिए कोई भी दूसरी श्रेष्ठ व सरल साधना नहीं है।

सभी ऋषिमुनि ॐ की शक्ति और साधना से ही अपना आत्मिक उत्थान करते रहे हैं। परन्तु आज आश्चर्य है कि ॐ का अन्य मन्त्रों की तरह व्यापक प्रचार नहीं है। इस कमी का अनुभव करते हुए अ० भा० ओंकार परिवार की स्थापना की गई है। आप भी अपने यहाँ इसका एक प्रचार केन्द्र स्थापित करें। शाखा स्थापना का सारा साहित्य निःशुल्क रूप से प्रधान कार्यालय, बरेली से मँगवा लें, आपको केवल इतना करना है कि स्वयं ओंकारोपासना आरम्भ करके ४ अन्य मित्रों व सम्बन्धियों को प्रेरित करें और सभी सकल्प पत्र व शाखा स्थापना का प्रार्थना पत्र प्रधान कार्यालय को भिजवा दें। इस वर्ष २७००० साधकों द्वारा ६०० करोड़ मन्त्रों के जप का महापुरश्चरण पूर्ण किया जाना है। आशा है ओंकार को जन-जन का मन्त्र बनाने के इस श्रेष्ठतम् आध्यात्मिक महायज्ञ में सम्मिलित होकर महान् पुण्य के भागी बनेंगे।

विनीत :—

संस्कृति संस्थान **चमनलाल गौतम**

ख्वाजाकुतुब, वेदनगर, बरेली–२४३००३ (उ.प्र.)

एक मौन व्यक्तित्व का मौन समर्पण

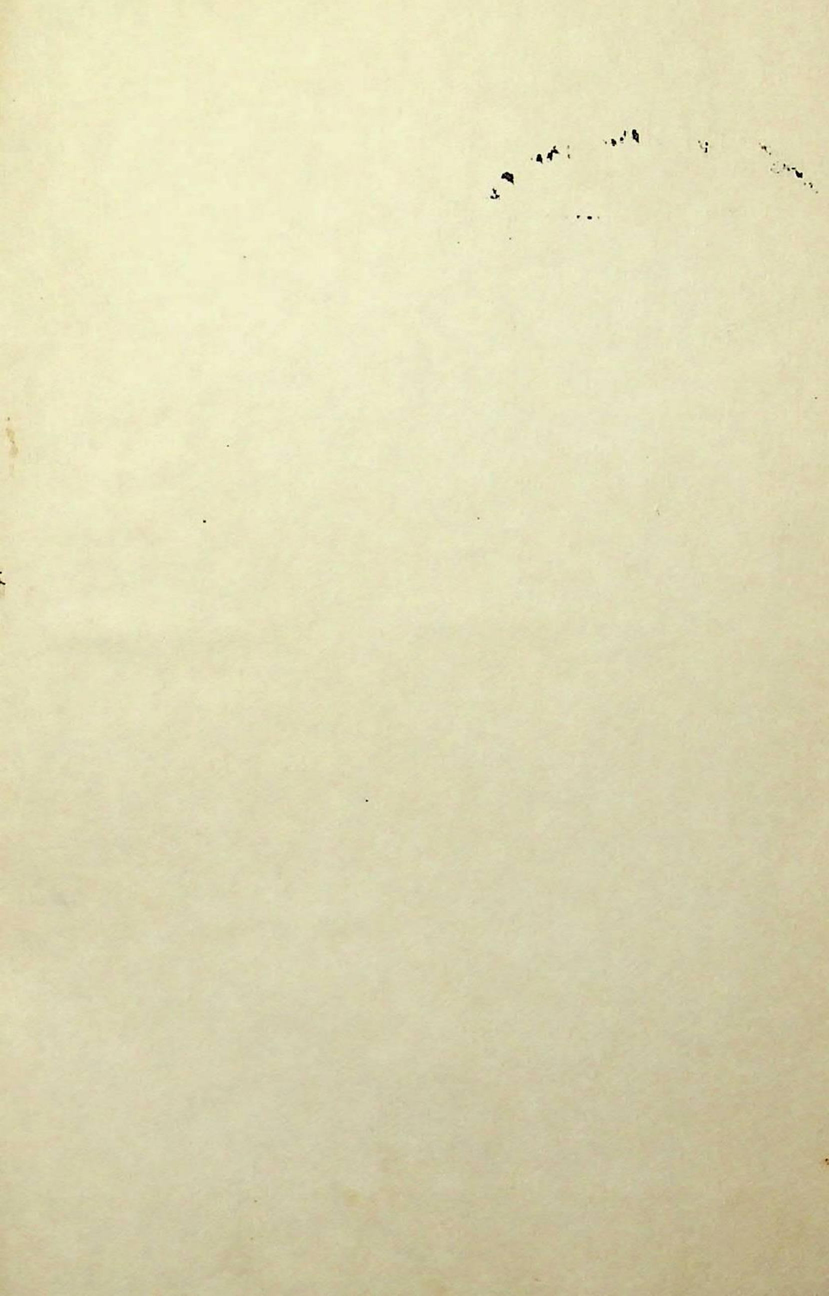
Mandir Library
No. 7221/H.
Date 12-10-81
JAMMU

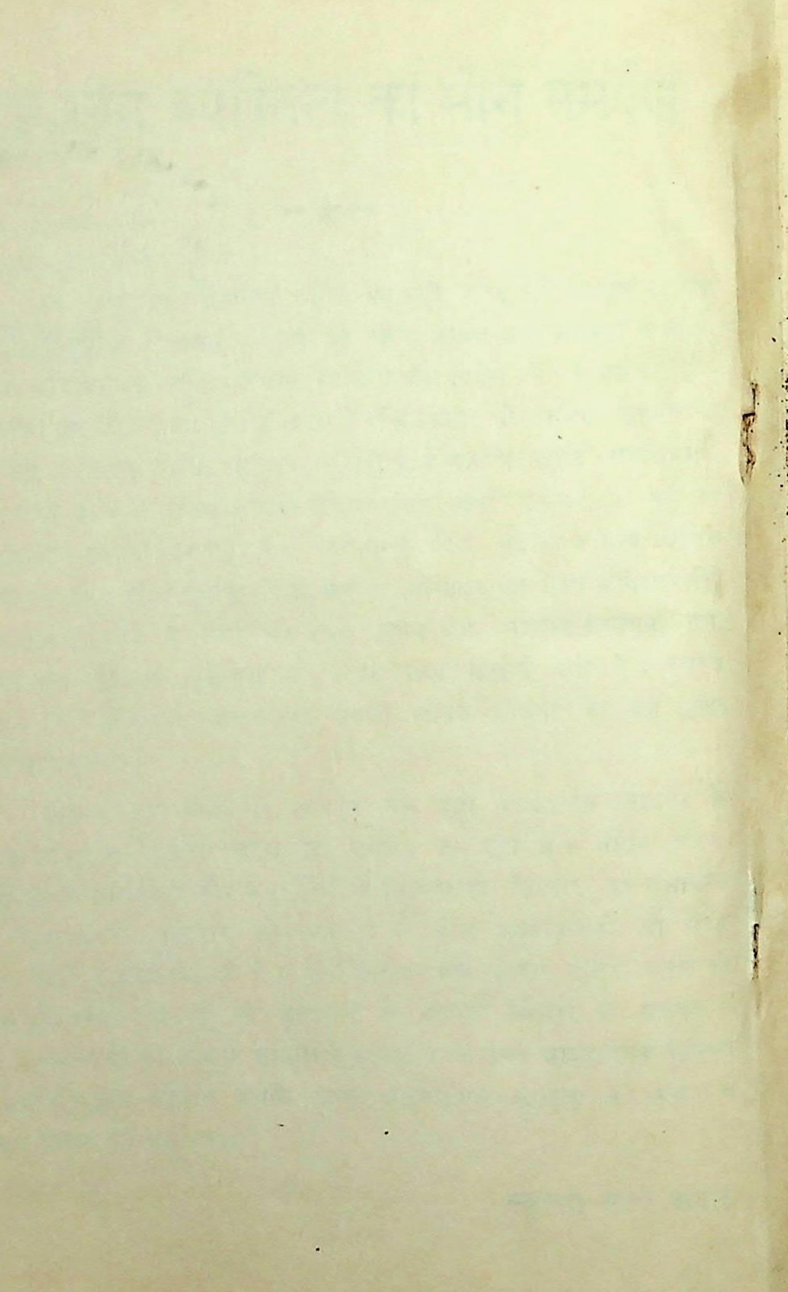


डा० चमनलाल गौतम-एक व्यक्ति का नहीं वरन् ऐसे विशाल धार्मिक संस्थान का नाम है जो सतत् २४ वर्षों से ऋषि प्रणीत आर्ष साहित्य के शोध, प्रकाशन और व्यापक साहित्य प्रचार का कार्य देश विदेश में करता रहा है। यह उनकी तप साधना का ही परिणाम है कि किसी भी आर्थिक सहयोग के बिना वेद, उपनिषद्, दर्शन, स्मृतियां, पुराण व मन्त्र-तन्त्र आदि साधनात्मक साहित्य की ३०० से अधिक पुस्तकों को प्रकाशित करके घर-घर में पहुँचाने की पवित्रतम साधना कर रहे हैं। मन्त्र-तन्त्र, योग, वेदान्त व अन्य धार्मिक विषयों पर १५० खोज पूर्ण ग्रन्थों का लेखन, सम्पादन एक ऐसा अविस्मरणीय व आसाधारण कार्य है जिस पर उनके अथक श्रम, गम्भीर अध्ययन, तप, प्रतिभा और मौलिक सूझ-बूझ की स्पष्ट छाप दिखाई देती है। स्वस्थ साहित्य की रचना और प्रचार का उनकी जीवन योजना का यह पहला चरण पूरा हुआ।

पिछले २४ वर्षों से लगातार चल रही अध्यात्मिक साधना के महापुरश्चरण का दूसरा चरण भी समाप्त हो रहा है। तीसरे चरण-आध्यात्मिक साधनाओं और अनुभूतियों के विश्वव्यापी विस्तार का शुभारम्भ अ० भा० ओंकार परिवार की स्थापना के साथ बसन्तपञ्चमी की परम पवित्र बेला के साथ हो गया है। अतः उनका शेष जीवन तीसरे चरण की सफलता, ओंकार परिवार की शाखाओं के व्यापक विस्तार के माध्यम से करोड़ों व्यक्तियों को ओंकार साधना में प्रविष्ट करके उच्च आध्यात्मिक भूमिका में प्रशस्त करना, ओंकार अथवा उच्च आध्यात्मिक साहित्य की रचना व प्रचार-प्रसार को समर्पित है।

स्वामी सत्य भक्त







गायत्री व ओंकार साहित्य

१—गायत्री सिद्धि	...	६)
२—गायत्री तन्त्र	...	५)७५
३—गायत्री योग	...	६)
४—गायत्री की उच्च साधनाय	...	५)
५—गायत्री का अर्थ चिन्तन		
६—गायत्री और चरित्र निर्माण		
७—सरल गायत्री साधना		
८—गायत्री साधना के चमत्कार		
९—गायत्री रत्नावली		
१०—स्त्रियां गायत्री उपासना क्यों करें ?		
११—२४ गायत्री साधना		२)५०
१२—गायत्री सहस्रनाम	...	१)२५
१३—गायत्री महासाधना	...	६)
१४—गायत्री रहस्य	...	५)
१५—महामन्त्र गायत्री	...	५)२५
१६—गायत्री महाविद्या	...	४)
१७—गायत्री की सहस्र शक्तियां	...	५)
१८—गायत्री स्तोत्र	...	३)७५
१९—गायत्री द्वारा योग साधना	...	३)७५
२०—ओंकार सिद्धि	....	६)२५
२१—ओंकार शक्ति के चमत्कार	....	३)२५
२२—ओंकार लेखन साधना	....	३)
२३—ओंकार रहस्य	....	)१५
२४—ओंकार दैनिक विधि	....	)१५
२५—ओंकार चालीसा	....	)१५
२६—ओंकार कीर्तन	....	)१५
२७—ओंकार भजनावली	....	)१५

ओंकार

प्रकाशक :

संस्कृति संस्थान